कविता का समाजशास्त्र
और
मुक्तिबोध

(एम.फिल्. हिन्दी उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध)

2002

शोध–निर्देशक
प्रो. मैनेजर पाण्डेय

शोधकर्ता
अरविन्द कुमार अवस्थी

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली– 110067

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI-110067

22/07/2002

Declaration

I declare that the work done in this dissertation entitled "***Kavita Ka Samajshastra Aur Muktibodh***" by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this, or any other University/Institution.

A. K. Awasthi

Arvind Kumar Awasthi
(Research Scholar)

Prof. Manager Pandey
(Supervisor)
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Cultural Studies

Prof. Manager Pandey
(Chairperson)
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Cultural Studies

GRAM : JAYENU TEL. : 667676, 667557 TELEX : 031-73167 JNU IN

माँ

तथा

बृजेन्द्र सिंह को,

सादर तथा सस्नेह

विवरणिका

पूर्वपीठिका i-iv

पहला अध्याय : कविता और समाजशास्त्रीय दृष्टि 1-30

i. कविता के समाजशास्त्र की आवश्यकता तथा आधार

ii. कविता और समाज के बीच सम्बन्ध के बारे में विभिन्न दृष्टियां – कार्यकारण संबंध – अभिव्यक्तिपरक सम्बन्ध – कथापरक सम्बन्ध – द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध

iii. गैर–साहित्यिक मानदण्ड का आक्षेप तथा रचनानिष्ठता का छद्म

iv. कविता का स्वरूप तथा रचनानिष्ठता का अर्थ

v. भाषा की दोहरी प्रकृति – कविता के निजी संसार की प्रकृति – काव्य–संसार और बाह्य संसार की मूलभूत समान प्रकृति

vi. संरचनाओं की सापेक्षिकता – आलोचना की समग्रतावादी दृष्टि

vii. गोल्डमान की समाजशास्त्रीय आलोचना–दृष्टि – 'कर्ता–वस्तु' का संबन्ध

viii. अस्तित्ववादी चिंतन–दृष्टि – द्वन्द्वात्मक विचारधारा की आपत्ति

ix. अस्तित्ववादी और संरचनावादी भ्रम की समानता – संरचनावादी दृष्टि और उसके भ्रम

x. परिवर्तन–संबंधी दृष्टिकोण पर आपत्ति – संरचनावाद में क्रिया का परिप्रेक्ष्यः व्यवस्था की पक्षधरता – संरचनावाद में समकालीनता पर जोर

xi. मानवीय क्रियाओं की अर्थवत्ता, संरचनात्मकता तथा ऐतिहासिकता

xii. 'सामूहिक कर्ता' की गोल्डमान की अवधारणा – 'विश्व–दृष्टि' की अवधारणा – विश्वदृष्टि की अभिव्यक्ति के अवधारणात्मक और कलात्मक रूप – संरचनाओं की समधर्मिता – कविता के संदर्भ में गोल्डमान की पद्धति – गोल्डमान के चिंतन पर आक्षेप

xiii. क्या कविता और समाजशास्त्रीय विचार–पद्धति में अनिवार्य विरोध है?

xiv. कविता में भाषा की स्वतःसंपूर्णता और अंतःनिर्देशात्मकता का प्रश्न

xv. कविता की आवश्यकता और महत्व

दूसरा अध्यायः कविता के समाजशास्त्र के विकास–सम्बन्धी मुक्तिबोध के प्रयास 31-68

i. जीवन की त्रिकोणात्मकता – अनुभव की निजता का महत्त्व

ii. व्यक्ति की जीवन–दृष्टि और समूह या वर्ग की विश्व–दृष्टि

iii. आत्मचेतस् होने का अर्थ

iv. कला जीवन की पुनर्रचना है – पुनर्रचित जीवन की गुणात्मक भिन्नता – गुणात्मक भिन्नता से सौन्दर्यपरक प्रभाव की उत्पत्ति

v. रचना–प्रक्रिया और उसके यांत्रिकीकरण के खतरे

vi. रचना–प्रक्रिया का परिवेशगत पक्ष – बाज़ार में साहित्य की दुनिया

vii. श्रेष्ठ कविताओं को समझने में रचना–प्रक्रिया के आंतरिक पक्ष का महत्व – फैण्टेसी की रचना प्रक्रिया का आंतरिक पक्ष – कलात्मक अनुभूति के तीन क्षण – विश्वदृष्टि और विचारधारा

viii. 'कामायनी' का काव्य–रूप – फैण्टेसी के अनुरूप कामायनी के आंतरिक रूप की असंगतियाँ – कामायनी की व्यावहारिक व्याख्या की गोल्डमान के सैद्धान्तिक–चिंतन से निकटता – कामायनी की व्याख्या का महत्व – रूप–विश्लेषण से सभ्यता समीक्षा तक

तीसरा अध्याय : काव्यान्दोलन और समाजशास्त्रीय दृष्टि 69-80

i. सामाजिक–सांस्कृतिक परिवर्तनों का स्वरूप

ii. भक्ति आंदोलन का एक पहलू

iii. सांस्कृतिक आंदोलनों का रचनाशीलता में योगदान

iv. जड़ीभूत सौंदर्याभिरूचि की समस्याएं

v. 'नयी कविता आंदोलन' के जन्म की पृष्ठभूमि – सिद्धांत, जीवन–दृष्टि और राजनीतिक दृष्टि

vi. जनवादी सांस्कृतिक आंदोलन के बीज

उपसंहार 81

संदर्भ ग्रंथ सूची 82-84

पूर्व–पीठिका

मुक्तिबोध के कवि–व्यक्तित्व की महानता आज किसी के लिये संदेह का विषय नहीं है। न केवल नयी कविता में उनकी केन्द्रीय स्थिति है बल्कि परवर्ती रचनाशीलता भी स्वयं को उनसे जोड़ती है। आलोचक के रूप में भी उनके व्यक्तित्व का कई आलोचकों ने आकलन किया है। हिन्दी समीक्षा को 'आभ्यंतरीकरण', 'जीवन की पुनर्रचना' 'संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना' तथा 'सभ्यता–समीक्षा' जैसे कई महत्त्वपूर्ण पद उन्होंने दिये हैं। इस प्रकार एक महत्त्वपूर्ण 'कवि–आलोचक के रूप में मुक्तिबोध हिन्दी–जगत् में प्रतिष्ठित हो चुके हैं।

इसके बावजूद मुक्तिबोध को पढ़ते हुए लगा कि उनके आलोचना–कर्म की मौलिकता को सामने लाना अभी शेष है। उनका आलोचनात्मक लेखन तीन तरह का है– निबंधों के रूप में, व्यावहारिक आलोचना के रूप में तथा साहित्यिक आंदोलनों के विश्लेषण के रूप में।

मुक्तिबोध के निबंधों का दायरा बहुत व्यापक है। रचना–प्रक्रिया के आंतरिक पक्ष पर उनके कई निबंध हैं, जिनके भीतर से उनकी सजग आत्मदृष्टि व्यक्त होती है। उनके केन्द्र में फैण्टेसी की रचना–प्रक्रिया ही है। रचना–प्रक्रिया के परिवेशगत पक्ष पर भी समाजशास्त्रीय दृष्टि से उन्होंने विचार किया है। मार्क्सवादी–सौन्दर्यशास्त्र की समस्याओं पर भी उन्होंने विचार किया है। रचना में वस्तु और रूप के संबंध की विशेषता की उन्होंने चार लम्बे निबंधों में व्याख्या की है। उनके अनुसार, रूप किसी काव्यकृति का सिंहद्वार है। कवि के लिए जो बात सब से बाद में (अनुभव से रूप–रचना की ओर) आती है, आलोचक के लिये सब–से पहले (रूप से अनुभव की ओर) आती है।

मुक्तिबोध मानते हैं कि यथार्थ की सम्पूर्णता जीवन और रचे गये जीवन से मिलकर बनती है। दुनिया जैसी है, वैसी ही पूरी नहीं है। मानव–जीवन वास्तविकताओं और आकांक्षाओं का जटिल पुँज है। इसीलिए मनुष्य इस दुनिया को बदलना चाहता है। कलाकार इस दुनिया को रूपांतरित करके नये तरह से रचता है। इस रूपांतरण के मूल में आभ्यंतरीकरण की विशिष्ट प्रक्रिया है। स्पष्ट है कि यथार्थ की संपूर्णता में अनुभव की निजता का अनिवार्य योगदान होता है। इसीलिये जीवन–चेतना और सौन्दर्य–चेतना परस्पर अभिन्न हैं। दोनों एक ही मूल स्रोत से उद्‌गत होती हैं। यही

कारण है कि अच्छी आलोचना तभी संभव होती है, जब कवि और आलोचक के जीवन–बोध में गहरी टक्कर हो।

प्रस्तुत शोध के पहले अध्याय में कविता और समाज के बीच संबंध के बारे में प्रचलित प्रमुख दृष्टियों की चर्चा करते हुए गोल्डमान द्वारा 'साहित्य के समाजशास्त्र' पर किये गये सैद्धांतिक चिंतन को आलोचनात्मक ढँग से सामने रखा गया है। गोल्डमान के समाजशास्त्रीय चिंतन को चुनने का कारण, उनके तथा मुक्तिबोध के आलोचनात्मक लेखन में नज़र आने वाली गहरी समानता है। गोल्डमान रचना को एक परिवर्तनशील संरचना के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार कविता में शब्द और अर्थ का सीधा संबंध नहीं होता। उसके दो रूपगत स्तर होते हैं। कविता का बाहरी शाब्दिक रूप स्थिर रहता है, जबकि आंतरिक रूप बदलता रहता है। यह आंतरिक रूप अनुभूति की संरचनाओं से बनता है। इनके बीच तनाव से ही अर्थ का सृजन होता है। प्राचीन महाकाव्यों, कथाकाव्यों आदि में इनके बीच का संबंध अत्यंत सहज होता था। आधुनिक कविता में यह तनाव बढ़ता जा रहा है। अनुभूति की संरचनाओं का संबंध सामाजिक–ऐतिहासिक यथार्थ के प्रति कवि की दृष्टि से होता है। कवि की इस दृष्टि का संबंध सामाजिक समूहों या वर्गों की विश्वदृष्टियों से होता है, जो सामाजिक क्रियाकलापों में सक्रिय हिस्सेदारी निभाती हैं। इनके पीछे विचारधारा की स्थिति होती है। कविता का आंतरिक रूप पाठक के मन में जाकर रूपाकार ग्रहण करता है। उसमें होने वाला परिवर्तन बाहरी जीवन–जगत् में होने वाले परिवर्तनों से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि शाश्वत कही जाने वाली रचनाओं के जीवन–सौन्दर्य–बोधी मूल्यों में भी ऐतिहासिक युगों के अनुरूप उतार–चढ़ाव आये हैं। कविता के इस संपूर्ण परिवर्तनशील स्वरूप को समझने के लिये यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि, वह मूलतः पाठ–मात्र न होकर एक सामाजिक–सांस्कृतिक क्रिया है। इसलिए कविता की आलोचना में वस्तुनिष्ठता का प्रश्न केवल उसके शाब्दिक–रूप तक ही सीमित नहीं है। सामाजिक स्तर पर कविता के अर्थ का उद्घाटन क्यों आवश्यक है? कविता की रूपवादी–भाषावादी या फिर मनोवैज्ञानिक व्याख्या अकेले क्यों पर्याप्त नहीं है? इस अध्याय में इन प्रश्नों पर विस्तार से विचार किया गया है।

दरअसल कविता मानव–मुक्ति की खोज का ही एक रूप है। यह मुक्ति स्वप्न में दमित तत्वों से मिलने वाली मुक्ति से भिन्न है। इसीलिए कविता की मनोवैज्ञानिक व्याख्या संदिग्ध न होते हुए भी अधूरी और असंगत होती है। कविता के साहचर्य सामाजिक होते हैं क्योंकि सामूहिक–चेतना भी समूह को निर्मित करने वाले व्यक्तियों की चेतना का ही वास्तविक हिस्सा होती है, कोई मिथ्या–निर्मिति नहीं। स्वप्न मनुष्य को जिन कुण्ठाओं से उबारते हैं, वे कुण्ठायें व्यक्ति की चेतना को बलपूर्वक 'सेंसर'

करके, उसमें उसकी प्रकृति से विपरीत और अजनबी तत्वों को घुसाने की चेष्टा का परिणाम होती हैं। इसलिए उसे हम दमित–चेतना कह सकते हैं। परंतु कविता में चेतना अपनी ही अंतःप्रवृत्ति में केंद्रित होकर पूरे समाज को बाहर से आरोपित यथार्थ से मुक्त करती है। इसलिये कविता की भाषिक संरचनाओं से प्रारंभ करके मनोवैज्ञानिक–सौंदर्यबोधी संरचनाओं से होते हुए, सामाजिक संरचनाओं के स्तर तक उसकी अर्थवत्ता को विश्लेषित करना आवश्यक है।

यह एक आश्चर्यजनक बात है कि लुसिएं गोल्डमान ने समाजशास्त्रीय आलोचना का 'उत्पत्तिमूलक संरचनावादी पद्धति' के रूप में जो सैद्धांतिक विकास किया है, हिन्दी में मुक्तिबोध उनसे पहले सिद्धांत और व्यवहार दोनों में, कविता के संदर्भ में, वैसा ही काम कर रहे थे। यद्यपि मुक्तिबोध ने 'समाजशास्त्र', 'विश्वदृष्टि' आदि पदों का बहुत स्पष्ट अर्थ में प्रयोग नहीं किया है, फिर भी उनके आलोचनात्मक प्रयास की दिशा वही है। 'कामायनीः एक पुनर्विचार' में उत्पत्तिमूलक–संरचनावाद की पद्धति का ही बहुत सफलता के साथ प्रयोग मिलता है। कामायनी को फैण्टेसी के रूप में व्याख्यायित करते हुए वह काव्य–रूप के विश्लेषण से शुरू करके सभ्यता–समीक्षा तक जाते हैं। ध्यान देने की बात है कि फैण्टेसी के काव्यरूप पर किये गये अपने इस सैद्धांतिक चिंतन का वह 'कामायनी' को छोड़कर अन्य कवियों की रचनाओं की आलोचना में कोई उपयोग नहीं करते। हर कवि की रचनाशीलता की विशिष्टता के प्रति यह सावधानी बड़े आलोचक व्यक्तित्व का सूचक है। 'कामायनी' की आलोचना के लिये इतनी लम्बी तैयारी करना इसी बात का प्रमाण है। 'शोध' के दूसरे अध्याय में उनकी इस महत्वपूर्ण व्यावहारिक आलोचना–कृति के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों का विवेचन करते हुए उसकी शक्तियों और सीमाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

मुक्तिबोध के आलोचनात्मक लेखन का तीसरा हिस्सा साहित्यिक आंदोलनों की व्याख्याओं से बनता है, जिन पर उन्होंने समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में विचार किया है। 'नयी कविता' आंदोलन पर उन्होंने विस्तार से लिखा है। नयी कविता का आधुनिक भावबोध जिन अस्तित्ववादी, कलावादी और संरचनावादी विचारों की पीठिका पर विचरण करता था, उनके पीछे निहित राजनैतिक आशयों का सचेत ढँग से उद्‌घाटन करने वाले वह पहले आलोचक थे। काव्यान्दोलनों–संबंधी उनके चिंतन पर 'शोध' के तीसरे अध्याय में विचार किया गया है। नयी कविता–संबंधी उनके विश्लेषण को और स्पष्ट करने के लिये पहले अध्याय में अस्तित्ववादी और संरचनावादी विचारों में निहित जीवन–दृष्टि पर संक्षेप में प्रकाश डालने की कोशिश की गयी है।

प्रस्तुत शोध–कार्य मेरा एकल प्रयास नहीं है। इसमें गुरूवर डॉ. मैनेजर पाण्डेय का जो योगदान है, उसे कह पाना मुझे असंभव ही लगता है। विषय–चयन से लेकर उसके विवेचन–विश्लेषण तक सब कुछ उन्हीं की आलोचनाओं से सीखा हुआ है– मौखिक रूप से और लिखित रूप से भी। मुक्तिबोध के चिंतन का जो विस्तार उन्होंने अपने अनेक निबंधों में किया है, उससे मुझे अपरिमित सहायता मिली है। उनका शिष्यत्व पाना मुझे अपने जीवन की एक अत्यंत सुखद घटना की तरह लगता है। जब पहली बार उनके करीब आया था तो मन में एक बड़े आलोचक के प्रभामण्डल का भय था तथा उनसे सीखने की आकांक्षा भी। बाद में उनकी सरलता और गहरी मनुष्यता से परिचय हुआ, जिसने अपना अमिट प्रभाव मेरे मन पर छोड़ा है। मैं अक्सर पहले से तिथि लिये बिना उनसे मिलने पहुँचा। कई बार तो मेरे असमय पहुँचने पर भी, उन्होंने, अत्यंत आत्मीयता के साथ समय दिया। डाँट और प्रोत्साहन दोनों से उन्होंने मुझे जागरूक रखने की कोशिश की और बहुत बार तो मेरे आधारहीन तर्कों को सुनकर और ऐसे ही लेखन को धैर्यपूर्वक पढ़कर मेरी कमियों की ओर संकेत किया। मैं जानता हूँ कि वह इस शोध का जो स्तर देखना चाहते थे, उस पर पहुँचने के लिये अभी और अध्ययन तथा चिंतन की आवश्यकता है। उस तक मैं आगे पहुँचने की कोशिश करूँगा।

शोध की अनेक समस्याओं पर विचार–विमर्श में मुझे अपने मित्रों का भी सहयोग मिला। भारत भूषण, राजीव, अमरेन्द्र, प्रमोद, शिरीष, नवलेन्द्र तथा अपने सीनियर अजीत मिश्रा और सत्यपाल जी के कई तरह के व्यावहारिक सहयोग का ही यह परिणाम है कि मैं अपना अधिक से अधिक समय शोध–कार्य में दे सका। मित्र बृजेन्द्र सिंह का आभार न तो व्यक्त कर सकता हूँ, न ही करना चाहता हूँ क्योंकि वह मेरी ऐसी जरूरत हैं, जिसे मैं कह नहीं सकता। उनसे मुझे जीने और सोचने की प्रेरणा तथा शक्ति मिलती है।

और अंत में, मैं विक्रम जी को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इसका टंकण करने में मेरे लिखने से अधिक शीघ्रता दिखाई।

अस्तु

अरविन्द अवस्थी

255 (O)
ब्रह्मपुत्र छात्रावास
ज.ने.वि., नई दिल्ली–67

पहला अध्याय

कविता और समाजशास्त्रीय दृष्टि

संस्कृति के विभिन्न रूपों का जन्म तथा विकास मनुष्य के सामाजिक जीवन की विकास–यात्रा के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। इस दृष्टि से किसी समाज में रचा जाने वाला साहित्य, उस समाज के समग्र सांस्कृतिक जीवन का एक अविभाज्य हिस्सा होता है। तमाम साहित्य–रूपों के बीच कविता की स्थिति इस अर्थ में कुछ अलग है कि वह आदिम जमाने से ही मनुष्य की सहचर रही है। इसलिये कविता का मनुष्य से रिश्ता कुछ अधिक गूढ़ तथा अनेक–स्तरीय प्रतीत होता है। मिथकों और पुराणकथाओं के रहस्यमय रूप में मानव–जीवन के तमाम ज्ञात–अज्ञात सत्य कविता अपने भीतर छुपाये हुए है तथा अपना रूप बदलकर आज भी मनुष्य के अनुभव तथा चिन्तन–जगत् का हिस्सा बनकर उसके साथ चल रही है। इसलिये यह कहने में हिचक नहीं होनी चाहिए कि कविता, प्रकृति के बीच सम्पूर्ण मनुष्य के अनुभवों तथा कार्यकलापों से सम्बद्ध है जबकि, विभिन्न सामाजिक विज्ञान या समाजशास्त्र, सामाजिक मनुष्य के कार्यकलापों से।

जीवन और जगत् की बढ़ती हुई जटिलता के कारण आज यह सम्भव नहीं रह गया है कि मानव–व्यक्तित्व के जैविक, सौन्दर्यबोधी, मनोव्यवस्थागत आदि विभिन्न पक्ष उसके सामाजिक जीवन और कर्म से पृथक् तथा स्वतंत्र रूप में जाने और समझे जा सकें। इसलिये कविता की अर्थवत्ता को भी उसकी समग्रता में उद्घाटित करने के लिये मनुष्य और समाज के विभिन्न पक्षों से उस पर विचार करना आवश्यक है।

यह एक स्वाभाविक सत्य है कि मानवीय ज्ञान की प्रत्येक शाखा कुछ आधारभूत मान्यताओं (जिन्हें वह 'स्वयंसिद्ध तथ्य' मानती है।) को अपना आरंभ–बिन्दु बनाकर विकसित होती है। 'कविता का समाजशास्त्र' भी इस मूलभूत पूर्वमान्यता पर आधारित है कि ये दोनों क्षेत्र (कविता और समाज) एक ही बृहद् तथा गतिशील समग्रता के हिस्से हैं और इसलिये उन्हें एक–दूसरे के सापेक्ष ही जाना और समझा जा सकता है।

कविता और समाज के बीच सम्बन्ध की प्रकृति के निर्धारण के बारे में कई दृष्टियां प्रचलित हैं। उनमें से एक दृष्टि कविता और उसे जन्म देने वाले समाज के बीच कार्य–करण–सम्बन्ध मानती है। यह कविता या कला सम्बन्धी सबसे सरलीकृत दृष्टि है। इसके अनुसार एक खास सामाजिक परिस्थिति में एक निश्चित तरह की कला का ही जन्म होता या हो सकता है। इस प्रकार कलाकृति अपने सामाजिक परिवेश से पूरी तरह निर्धारित होती है। स्पष्ट है कि यह दृष्टि सामाजिक परिवेश और

समसामयिक काव्य–रचनाओं के बीच निश्चित, निर्धारकतावादी और तुल्यधर्मी सम्बन्ध मानती है और इसी आधार पर कविता की व्याख्या का प्रयास करती है।

कहने की ज़रूरत नहीं कि इस दृष्टि की मान्यता आज कितनी सीमित हो चुकी है। आज तक के कविता के इतिहास में कविता और समाज के बीच ऐसा कोई निश्चित संबंध खोजा नहीं जा सका है। बात केवल इतनी ही नहीं है। इस दृष्टि पर कई अन्य गंभीर आपत्तियां भी हैं। यह कवि के मानस की जटिलता की उपेक्षा करके सामाजिक परिस्थिति से कविता का सीधा और अवास्तविक सम्बन्ध जोड़ती है। अपनी निर्धारकतावादी प्रकृति के अनुरूप यह दृष्टि कविता की विशिष्टता की उपेक्षा करके उसे एक सामाजिक कथ्य के रूप में अनुवादित कर देती है और फिर अपनी पूर्वमान्यता के आधार पर निश्चित सामान्यीकरणों के सहारे उसे उन सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम बताकर छुट्टी पा जाती है। दुर्भाग्य की बात यह है कि अपनी स्पष्ट अविश्वसनीयता, अधूरेपन और यांत्रिकता के बावजूद कविता के समाजशास्त्र के समर्थन और विरोध दोनों में समाजशास्त्रीय दृष्टि के नाम पर यही समझ सबसे अधिक प्रचलित है।

कविता या कला के सम्बन्ध में एक दूसरी दृष्टि यह मानती है कि सामाजिक परिस्थितियों के साथ उसका सम्बन्ध अभिव्यक्तिपरक होता है। इसके अनुसार काव्यकृति अपने समय के समाज की अभिव्यक्ति होती है। इस तरह के कथन कि 'निराला का काव्य भारतीय जनता के स्वाधीनता–संघर्ष का साहित्यिक प्रतिफलन है।' इसी दृष्टि को दर्शाते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि हम 'निराला के काव्य–संसार और स्वाधीनता–संघर्ष' पर विचार करने के बजाय 'निराला' के काव्य को स्वाधीनता के संघर्ष का प्रतिफलन मानकर क्यों विचार कर रहे हैं? यह सही है कि काव्य–जगत बाह्य–जगत से स्वतंत्र नहीं होता, लेकिन वह बाह्य–जगत का परिणाम–मात्र भी नहीं होता। सीमित ही सही, पर कलाकृति की अपनी स्वायत्तता भी होती है। कला के संसार को निर्मित करने वाले उपकरण सामाजिक परिवेश से ही लिये गये हों, यह कतई जरूरी नहीं है। यदि परीकथाओं और मिथकों को छोड़ भी दें तथा आधुनिक काल की रचनाओं पर ही बात करें तो भी ऐसी कई श्रेष्ठ कलाकृतियां गिनाई जा सकती हैं जिनका रचना–संसार अपनी निर्मिति में बाह्य–संसार से बिल्कुल भिन्न है। इसका सबसे उपयुक्त उदाहरण 'काफ्का' की अधिकांश रचनायें हैं। इसीलिये 'रिचर्ड्स'

ने द्वितीय वास्तविकता के रूप में काव्य की सत्ता स्थापित की है।'[1] नामवर सिंह ने इस समस्या पर विचार करते हुए लिखा है, "इस प्रसंग में महिमभट्ट ने किसी प्राचीन आचार्य का यह कथन उद्धृत किया है कि भ्रांतिरपि संबंधतः प्रमा। अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान भी संबंध–विशेष से प्रमा अथवा यथार्थज्ञान हो सकता है। इस मत के अनुसार यदि काव्य–जगत को भ्रम भी मानें तो संबंध–विशेष के कारण यह यथार्थज्ञान का आधार हो सकता है।"[2] भ्रान्ति भी संबंध–विशेष से प्रमा हो सकती है– यह मत मुक्तिबोध की इस मान्यता के बहुत करीब है कि भाववादी कला के अंतर्गत भी जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी हो सकती है। परंतु इसके बावजूद कि कलाकृति अपनी निर्मिति में वास्तविक संसार से पूरी तरह अजनबी हो, अपने समग्र कलात्मक प्रभाव में उससे किसी–न–किसी तरह के सम्बन्ध को अवश्य संकेतित करती है।

वास्तव में काव्य–जगत् और यथार्थ–जगत में कोई–न–कोई संबंध तो होता ही है, भले ही वह अभिव्यक्तिपरक न हो। अभिव्यक्तिपरक संबंध मानने वाली दृष्टि में काव्य–कृति के अंदर समाज की छवि देखने की इच्छा उसी तरह से निहित होती है, जैसे पेंटिंग से वास्तविक मनुष्य और हस्तलिपि से लेखक का चरित्र जानने की इच्छा पैदा होती है।

यह दृष्टि यद्यपि पूर्ववर्ती दृष्टि की तरह कृति और समाज के बीच कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं मानती, लेकिन कुछ प्रच्छन्न तथा सामान्य संबंधों की ओर संकेत करती है, जैसे– कविता अपने समय के समाज को चित्रित करती है, उसका विकल्प प्रस्तुत करती है, उसके कष्टों की संवेदनात्मक भरपाई करती है आदि। आंशिक सत्यता के कारण इस दृष्टि की कुछ स्वीकार्यता भी है। परंतु इस दृष्टि के कारण कुछ दूसरी कमियां उत्पन्न हो जाती हैं। इसमें आलोचक की रूचि कविता में न होकर कविता के माध्यम से उसके समकालीन समाज को जानने में होती है। इसलिये एक ओर काव्य–संसार की रचनात्मक विविधता की उपेक्षा होती है, दूसरी ओर समकालीन कवियों के अलग–अलग वैशिष्ट्य और उनके मनोजगत् की जटिलता को दरकिनार कर दिया जाता है।

कविता में समाज की खोज स्वयं में एक दुरूह और अनिश्चयात्मक कार्य है, क्योंकि कविता की प्रकृति प्रायः समाज से दूर और उसके परे जाने की होती है। इसलिये आलोचक को यह छूट मिल जाती है कि वह अपनी दृष्टि के अनुसार समाज का स्वरूप कविता में से खोज निकाले। होता यह है कि कविता की आन्तरिक संगति

और अर्थ के उद्‌घाटन के बजाय आलोचक की दृष्टि का प्रक्षेपण ही विश्लेषण–प्रक्रिया में सामने आने लगता है। समाज से परे जाने की प्रकृति के कारण कविता यथार्थ का सीधे सामना कम ही करती है। इसे अगर सही माना जाए तो डॉ. मैनेजर पाण्डेय का यह प्रश्न वास्तव में अत्यन्त चुनौतीपूर्ण है कि भारतीय समाज में देश–विभाजन की जो भयावह और त्रासद घटना हुई, उसमें लाखों लोग बेघर और मौत के शिकार हुयें। सिर्फ इतना ही नहीं, देश ने जो नैतिक, राजनैतिक, भौगोलिक और संवेदनात्मक दंश झेला, उसकी पीड़ा हम आज तक महसूस कर रहे हैं। अनेक कथाकारों ने इस अभूतपूर्व दंश को अभिव्यक्ति भी दी, लेकिन क्या कारण है कि हिन्दी के कई शीर्ष कवियों की मौजूदगी के बावजूद कविता में कहीं भी उसकी अभिव्यक्ति नहीं हुई?

कला या कविता के समाजशास्त्र सम्बन्धी एक तीसरी दृष्टि कला तथा उसे उत्पन्न करने वाले समाज के बीच कथापरक सम्बन्ध मानती है। यह उत्तर–संरचनावादियों के बहुलतावाद से प्रभावित नयी दृष्टि है। इसमें कविता और उसे जन्म देने वाले समाज के बीच किसी भी इकहरे सम्बन्ध को स्वीकार नहीं किया जाता। इस दृष्टि से की गयी व्याख्या प्रायः सामाजिक जगत् से सम्बन्धित किसी तथ्य के कथन से प्रारंभ होती है और बीच में सुसंगत प्रतीत होने वाली कोई भी कथा गढ़कर उसका अंत संबंधित कविता की उत्पत्ति से जोड़ती हुई पूरी होती है।

यह दृष्टि पहली दोनों दृष्टियों की कमियों से तो मुक्त है, पर उनके गुणों से भी शून्य है। यह सही है कि इसमें न तो कविता और समाज के बीच किसी निश्चयात्मक संबंध की स्वीकृति ही है, न अपने विश्लेषण के पूर्ण और अंतिम होने का दावा ही। लेकिन इस दृष्टि में एक इतनी बड़ी कमी है कि उसके सामने इसकी सारी उपलब्धियां बौनी पड़ जाती हैं। इसमें आलोचक को अपनी मर्ज़ी के अनुकूल कथा गढ़ने की जो खुली छूट मिलती है, उससे कविता का समाजशास्त्र मनगढंत पोथा बन जाता है। इस पद्धति को अपनाने वाले आलोचक की रूचि न तो कविता को जानने में रहती है न ही समाज को जानने में। वह तो अपनी इच्छानुसार कथा गढ़कर कविता का आनंद लेता है। यह दृष्टि आलोचक को संवेदनशील, समझदार पाठक के स्तर से भी नीचे गिरा देती है और इस तरह रचना और सामान्य पाठक के बीच हर तरह की मध्यस्थता के सफाये का रास्ता साफ कर देती है। यह आज की बाज़ारवादी मानसिकता के अनुकूल है, जिसमें रचना का अपनी तरह से उपयोग करने के लिये पाठक स्वतंत्र है। कविता को मनोरंजन की वस्तु में तब्दील कर देने वाली यह आलोचना–दृष्टि ज्ञान की एक शाखा के रूप में आगे ले जाने में असमर्थ है।

कविता के समाजशास्त्र के इतिहास में अगर व्यावहारिक आलोचनायें देखी जायें तो प्रायः उपर्युक्त तीनों दृष्टियों में से ही किसी–न–किसी का थोड़े बहुत हेर–फेर के साथ प्रयोग मिलता है। यही कारण है कि आलोचना–जगत् में 'कविता के समाजशास्त्र' के प्रति एक संदेहपूर्ण और नकारात्मक दृष्टि पायी जाती है। परंतु कुछ आलोचकों ने कविता और समाज के बीच द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण के आधार पर, उनके जटिल अन्तर्सम्बन्ध की व्याख्या करने की भी कोशिश की है। ऐसे कई महत्वपूर्ण प्रयासों को भाववादी सौंदर्यशास्त्रियों तथा भाषावादी आलोचकों ने आलोचना का गैर–साहित्यिक मानदण्ड करार देकर ख़ारिज करने की भी कोशिश की है। देखने की बात यह है कि इस आरोप में कितनी सच्चाई है?

वास्तव में भाववादी, रूपवादी सौंदर्यशास्त्री स्वयं एक बहुत बड़े भ्रम के शिकार हैं। वे 'शब्द' को उसके सभी सामाजिक–ऐतिहासिक संदर्भों से स्वतंत्र और पृथक्कृत मानकर कृति के आंतरिक संरचनात्मक नियमों से निर्देशित बताने लगते हैं। लेकिन शब्द के साथ अपने इस एकपक्षीय व्यवहार पर कायम रह पाना उनके लिये सदा संभव नहीं हो पाता क्योंकि भाषा तथा समाज के बीच एक तरह का द्वन्द्वात्मक संबंध होता है। व्यक्ति यदि समाज का बोध भाषा में प्राप्त करता है तो भाषा का निर्माण भी इतिहास की प्रक्रिया में ही होता है। इसलिये सौंदर्यशास्त्र स्वयं को काव्यकृति के सौंदर्यपरक गठनऔर उसके आस्वाद की प्रक्रिया तक ही सीमित नहीं रख सकता। (यद्यपि यह भी केवल भाषा तक ही सीमित नहीं है।) क्रिस्टोफर कॉडवेल की यह टिप्पणी रूपवादी–भाववादी सौंदर्य शास्त्रियों पर एकदम सही बैठती है–

"यदि सौंदर्यशास्त्र की अंग्रेजी की विख्यात कृतियों की जांच की जाए तो यह पता लगता है कि वे कवि भी, जिनका दृष्टिकोण शुद्धरूप से सौंदर्यवादी बना रहता है, एक हिस्से में तो मनोभाववादी मानदण्डों को अपनाते हैं और दूसरे हिस्से में रूपवादी मानदण्ड, तथा इन दोनों दृष्टिकोणों के ज़ाहिर अंतर्विरोधों के बीच सामंजस्य बैठाने का प्रयत्न भी नहीं करते। परंतु सौन्दर्यशास्त्र का अंग्रेजी का ऐसा कोई लेखक शायद ही मिले जो सौंदर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण पर मुस्तैदी से जमा रह जाता हो। ... परंतु जैसे ही कोई काव्य के रसास्वादन या सर्जना से आगे जाकर कला की आलोचना की ओर बढ़ता है तो यह साफ़ है कि वह कला के क्षेत्र से बाहर चला जाता है और उस पर बाहर से देखने लगता है। परंतु कला के बाहर क्या है? जैसे मोती सीपी की उपज है वैसे ही कला समाज की उपज है और कला से बाहर स्थित होने का अर्थ है समाज में स्थित होना।"[3]

वास्तव में कॉडवेल जिसे कला से बाहर जाना कहते हैं, वह एक ही साथ बाहर जाना और अंदर जाना–दोनों है, क्योंकि काव्यकृति के अंतर्गत शब्द अपने सामाजिक–ऐतिहासिक संदर्भ से संपृक्त होकर कृति के रचनात्मक गठन के आंतरिक नियमों से निर्देशित होते हैं, न कि उनसे पृथक होकर। 'कविता के नये प्रतिमान' में डॉ. नामवर सिंह ने भी भाषानिष्ठ अर्थमीमांसा को काव्य–विश्लेषण की पद्धति के रूप में सामने लाते हुए उसे मूल्यांकन का प्रतिमान बनाने का विरोध किया है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के काव्यभाषा–विषयक "मत–विशेष का मोहपूर्ण आग्रह" स्पष्ट करते हुए वह लिखते हैं– "ये बातें इसलिये उल्लेखनीय हैं कि डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी आज की स्थिति में 'काव्यभाषा' के प्रतिमान को सबसे सुनिश्चित, तटस्थ, पूर्वग्रह–मुक्त, व्यक्तिगत रूचि के अनेपक्षित तत्व से रहित एवं आब्जेक्टिव मानते हैं... मतभेद से स्पष्ट है कि काव्यभाषा का यह प्रतिमान भी व्यक्तिगत रूचि के तत्वों से रहित नहीं है।"[4]

नामवर सिंह इस ख़तरे को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "कथ्य को कथन के रूप में निःशेष कर देने में, निस्संदेह, आलोचना के अंतर्गत रूपवादी रूझान का ख़तरा है, क्योंकि कुछ आलोचक कथन की भाषागत विशेषताओं के विश्लेषण को ही समूची काव्यकृति का विश्लेषण समझने की भूल कर सकते हैं। किन्तु जो जागरूक समीक्षक शब्द के गिर्द बनने वाले समस्त अर्थ–वृत्तों तक फैलते जाने का विश्वासी है वह संदर्भ के अनुसार शब्द में निहित सभी अर्थापत्तियों को पकड़ कर काव्यभाषा के आधार पर ही काव्य का पूर्ण मूल्यांकन कर सकता है, जिसमें उसका नैतिक मूल्याँकन भी निहित है।"[5]

असल में कथ्य तक पहुँचने का साधन काव्यभाषा और सामाजिक–ऐतिहासिक यथार्थ के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध की समझ ही है। हर कवि में यह सम्बन्ध एक विशेष निजी रूपाकार ग्रहण करता है, जिसका कारण कवि–मानस में यथार्थ के आभ्यन्तरीकरण के स्वरूप की विशिष्टता है। इसे एक विशिष्ट रूप देने के पीछे कवि की मनोव्यवस्था, उसकी संकल्प, क्रिया तथा इच्छाशक्ति, कवि की मनोरचना में योगदान देने वाली समाजव्यवस्था तथा कवि की विश्वदृष्टि आदि तत्व सक्रिय रहते हैं। कविता के आंतरिक–रूप की रचना में ये सभी तत्व सक्रिय रहते हैं। कविता का बाह्य–रूप या शाब्दिक स्वरूप स्थिर होता है जिसे अंग्रेजी आलोचक 'पोयेम ऑन द पेज' कहते हैं। यह स्वरूप प्रिंटिंग मशीन के आने से पहले स्थिर नहीं होता था। आज भी जो कवितायें जनकण्ठ का हार बन जाती हैं, उनके इस स्वरूप में थोड़ा–बहुत फ़र्क आ जाने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। रचना के इस बाहरी

स्वरूप का प्रधान महत्व दो कारणों से है – एक तो यह उसके आंतरिक गतिशील स्वरूप को धारण करता है, दूसरे उसे पाठक तक मूल–रूप में पहुंचाता है। कविता का आंतरिक रूप परंपरा और परिवेश, स्मृति और स्वप्न, यथार्थ और आकांक्षा, संवेदना और ज्ञान, चेतन और अचेतन, मिथक औरसत्य, मिथ्या चेतना और वैज्ञानिक चेतना आदि द्वन्द्वों के विभिन्न रूपों और स्तरों के संश्लिष्ट रूप से बनता है,जिनके मूल में भाषा और सामाजिक–ऐतिहासिक यथार्थ का द्वन्द्वात्मक संबंध ही है। कविता का यह आंतरिक स्वरूप अपनी रचना–प्रकृति के अनुसार समाज के विकास के साथ बदलता भी है। इसलिये कविता के बाह्य स्थिर रूप तथा भीतरी गतिशील रूप के बीच एक तनाव बना रहता है, जिसके कारण अर्थ का सृजन होता है। इसी आन्तरिक तनाव के सामंजस्य की कोटि पर यह निर्भर करता है कि कविता किस सीमा तक कवि की बात को अभीष्ट पाठक तक पहुँचाने में सफल हो पाती है।

कविता अपने प्रत्यक्ष रूप में भाषिक संरचना है। भाषा का काम दोहरा है। यह हमें बाहरी दुनिया से जोड़ती है,क्योंकि यह मानव–बुद्धि के लिये बाहरी दुनिया के अभिज्ञान का एक तरीका संभव कराती है। साथ ही, भाषा हमें बाहरी दुनिया से तोड़ती भी है,क्योंकि हमारे और इस बाहरी दुनिया के बीच हमेशा ही भाषा किसी–न–किसी रूप में उपस्थित रहती है। भाषा की प्रकृति में निहित यह अंतर्विरोध ही कविता में निहित अंतर्विरोध का कारण है। भाषा की इस दोहरी प्रकृति के अनुरूप ही कविता की प्रकृति भी दोहरी है।

कविता पाठक को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से बाहरी दुनिया की ओर ले जाती है तथा उनके बीच संबंध स्थापित करती है। यह सम्बन्ध संवेदन, सहानुभूति, समझदारी, आलोचना आदि कई स्तरों पर होता है। लेकिन प्रत्यक्ष में यह पाठक को जिस दुनिया में ले जाती है, वह इसकी अपनी दुनिया यानी 'रचना–संसार' है। यह 'रचना–संसार' वास्तविक संसार से पूरी तरह अजनबी भी हो सकता है। इसीलिये प्राचीन ग्रंथों में कवि को 'प्रजापति' की उपाधि दी गयी है। स्पष्ट है कि कविता पाठक को बाहरी दुनिया से हटाकर अपने आंतरिक 'रचना–संसार' में ले जाती है। उपरोक्त विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि कविता बाहरी संसार से न केवल पृथक् होकर, बल्कि एक विशिष्ट अर्थ में सृजनात्मक कल्पना की सहायता से उससे परे जाकर अपना निर्माण करती है, परंतु उसमें निहित संरचनायें वास्तविक संसार की संरचनाओं से तथा ये दोनों एक ही गतिशील समग्रता से सम्बन्धित होती हैं।

वस्तुतः गहराई से निरीक्षण करने पर पता चलता है कि विभाजन और संयोजन की प्रक्रिया केवल भाषा और कविता तक ही सीमित नहीं है। यह जैव भी है। शरीर–रचना से पूर्व कोशिकाओं का विभाजन होता है। जीव–रचना (निषेचन) से पूर्व गुणसूत्रों का विभाजन होता है। टूट–टूट कर जुड़ने और जुड़–जुड़ कर टूटने की यह प्रक्रिया सार्वभौमिक है। संयोग और वियोग की प्रक्रियायें ही तो जीवन–जगत् का मूल हैं। मिलना और बिछुड़ना दोनों ही अपरिहार्य है। राग–विराग का यह सत्य संपूर्ण सृष्टि में व्यक्त हो रहा है। इसलिये कविता का ग्रहण भी दो परस्पर विरोधी स्तरों पर एक ही प्रक्रिया के अंतर्गत होता है। कविता जहाँ संवेदना और सहानुभूति के स्तर पर ग्रहण की जाती है, वहीं समझदारी और आलोचना के स्तर पर भी। 'मुक्तिबोध' ने इस दोहरी प्रक्रिया को ही 'ज्ञानात्मक संवेदन और संवेदनात्मक ज्ञान' पद के सहारे व्यक्त किया है।

जैसा मैंने ऊपर कहा है कि कविता की भाषिक संरचनायें, आंतरिक रूप की संरचनायें और बाहरी दुनिया की संरचनायें एक ही समग्रता के हिस्से हैं और परस्पर तथा पूरी समग्रता से सम्बंधित हैं; उन्हें उस समग्रता के अन्तर्गत एक–दूसरे के सापेक्ष ही जाना और समझा जा सकता है। कविता का अर्थ, चूँकि, रचनानिष्ठ है, अतः उसे बाहर लाने के लिये कविता की भाषिक–संरचनाओं का विश्लेषण पहला और अनिवार्य काम है। परंतु भाषिक संरचनायें स्वतःपूर्ण तथा स्वतंत्र नहीं होतीं। इसलिये उनका विश्लेषण–मात्र कविता के अर्थोद्‌घाटन के लिये पर्याप्त नहीं है। कविता में आये चिह्नों और प्रतीकों की व्यवस्था किसी कल्पित मनोव्यवस्था के अंतर्गत ही बोधगम्य होती है। (क्योंकि ईर्ष्या–द्वेष, भ्रष्टाचार, राजनीति, घृणा–प्रेम आदि शब्द स्वयं में कोई अर्थ नहीं रखते, ये शब्द अपने–आप में ईर्ष्या–द्वेष, भ्रष्टाचार, राजनीति, घृणा या प्रेम नहीं करते, बल्कि यह मनुष्य है जो ईर्ष्या, द्वेष, भ्रष्टाचार, राजनीति, घृणा या प्रेम करता है। इस प्रकार किसी मानवीय कर्म, चिन्तन या अनुभव से सम्बद्ध होकर ये अर्थ का संकेत करते हैं।) परंतु यह मनोव्यवस्थागत अर्थ भी रचनानिष्ठ सम्पूर्ण अर्थ नहीं हैं। इसका कारण यह है कि मानसिक–संरचनायें अत्यंत विविधतामय और जटिल होती हैं। इसलिये अनुभव और रचना का सम्बन्ध भी अत्यन्त विविधतामय हो जाता है। इस विविधता के धरातल पर ही रचना के सौंदर्यपरक अर्थ की खोज होनी चाहिये। कविता की समृद्धि की पहचान उसके इस सौंदर्यपरक अर्थ के आधार पर ही हो सकती है। परंतु सौन्दर्यपरक अर्थ भी कविता का सम्पूर्ण अर्थ नहीं है, क्योंकि मानसिक–सौन्दर्यपरक–संरचनायें स्वतंत्र संरचनायें नहीं हैं। ये सामाजिक संरचनाओं के

साथ जुड़ी हैं। अतः सामाजिक संरचनाओं के अंतर्गत कविता की पाठ–संरचना को रखकर क्रमशः उसके भाषागत, मनोविश्लेषणपरक, सौन्दर्यबोधी संरचनाओं के अर्थस्तरों को खोलते हुए रचनानिष्ठ सम्पूर्ण अर्थ को विवक्षित कर पाना संभव है। लेकिन यहाँ यह भी याद रखना जरूरी है कि इन सभी स्तरों के पारस्परिक संबंध स्थिर न होकर, एक गतिशील समग्रता के अंतर्गत निरंतर बदल रहे हैं।

इस प्रकार कविता की अर्थवत्ता को सम्पूर्ण रूप से सामने लाने की यह प्रक्रिया अंतर्वेशी है, न कि अपवर्जी। इसमें इस बात पर ज़ोर है कि 'कविता का समाजशास्त्र' महज़ कविता और उसे जन्म देने वाले समाज के सम्बन्धों का अध्ययन भर नहीं है। यह कविता के अर्थ को उसकी व्यापकता तथा सम्पूर्णता में उद्‌घाटित करने वाली एक आलोचना–दृष्टि है। साथ ही यह आलोचना का एक रचनानिष्ठ अनुशासन भी है। कविता के स्वरूप की संरचना के प्रति उसकी दृष्टि नये समीक्षकों तथा भाषावादी–शैली वैज्ञानिकों की तरह संकीर्ण, सीमित तथा स्थिरतावादी नहीं है। इसीलिये अन्य आलोचना–दृष्टियाँ जहाँ कविता का एकपक्षीय और अधूरा विश्लेषण करती हैं, यह कविता की अर्थवत्ता और सार्थकता दोनों को सामने लाती है। 'कविता के समाजशास्त्र' के विकास के लिये इसे आलोचना की एक ऐसी दृष्टि के रूप में विकसित करने की आवश्यकता है जिसमें भाषा–विश्लेषणात्मक, मनोविश्लेषणात्मक, सौंदर्यशास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय स्तरों का उनके पारस्परिक गतिशील सम्बन्धों के साथ समावेश हो। 'मुक्तिबोध' ने इसी आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए लिखा था– "साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव–सत्ता का अध्ययन है। अतएव, जो लोग केवल ऊपरी तौर पर साहित्य का ऐतिहासिक विहंगावलोकन अथवा समाजशास्त्रीय निरीक्षण कर चुकने में ही अपनी इतिकर्त्तव्यता समझते हैं, वे भी एकपक्षीय अतिरेक करते हैं। ऐसे व्यक्ति साहित्य के ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय परिवेश की बात करके चुप हो जाते हैं। आवश्यकता तो इस बात की है कि आलोचना में ऐतिहासिक–समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक–सौंदर्यात्मक विवेचना की सम्पूर्ण एकात्मकता रहे। "समालोचना" केवल एक ही होनी चाहिए, और उसके विविध–पक्षीयमत एक ही सर्व–सामान्य मूल स्रोत, एक ही व्यवस्था, एक ही कला–चिंतन से उद्‌गत होने चाहिये (बेबुस्की)। किन्तु यह तब तक संभव नहीं है जब तक कि हम ऐतिहासिक–समाजशास्त्रीय पक्ष तथा मनोवैज्ञानिक–सौंदर्यात्मक पक्ष के परस्पर संबंधों का स्वरूप–विश्लेषण नहीं कर लेते।"[6]

कविता के समाजशास्त्र को इस दिशा में विकसित करने के लिये गंभीर प्रयास करने वाले आलोचकों में एक प्रमुख नाम लुसिएं गोल्डमान का है। उनकी पद्धति 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद' की है जिसका आधार है मार्क्स की 'द्वन्द्वात्मक विचारधारा'। इसे उन्होंने एक ओर सार्त्र के 'अस्तित्ववाद' तथा दूसरी ओर सैसुए, लेवी–स्ट्रास, फूको, ग्रेम्स, आल्थोस्यू, रोलाँ बार्थ आदि के 'संरचनावाद' के विरोध में विकसित किया है। ये दोनों ही विचार–व्यवस्थायें कुछ द्वैतों (स्वतंत्रता–नियति, मूल्य–तथ्य, बोध–व्याख्या, प्रक्रिया–संरचना, कर्त्ता–वस्तु, चेतना–पदार्थ आदि) के छद्म–पृथक्करण पर आधारित हैं जिनके मूल में चेतना और पदार्थ का छद्म–पृथक्करण है।

सामाजिक तथा मानवीय विज्ञानों में, सार्थक शोध के लिये 'वस्तुनिष्ठता' की प्रकृति को समझना आवश्यक है। आलोचक या अन्वेषक के लिये समाज, बाह्य–जगत् की एक वस्तु–मात्र नहीं है। वह स्वयं भी इसी समाज का एक हिस्सा है। इसी प्रकार उसकी चेतना की संपूर्ण 'श्रेणीगत संरचना तथा भावनायें' सामाजिक तथ्य हैं।

वस्तुतः चेतना और पदार्थ एक–दूसरे से स्पष्ट तथा आत्यंतिक रूप से पृथक् नहीं हैं। इसे ही हेगेल ने 'चेतना और पदार्थ की एकता' कहा है, जो ऐतिहासिक प्रक्रिया के दौरान अस्तित्व में आती है।

सार्त्र के दर्शन का अथबिन्दु है– 'व्यक्ति–चेतना'। वह उसे ही कर्ता मानते हैं। यह कर्ता स्वतंत्र पैदा हुआ है तथा जीवन और कर्म में अपनी इच्छानुसार कुछ भी चुनने के लिये स्वतंत्र है। उसके लिये उसका अस्तित्व ही सब कुछ है। उसके होने मात्र से ही उसका प्रयोजन है। किसी बाह्य–विधान के अनुसार अस्तित्व सार्थक नहीं होता। अस्तित्व प्राथमिक है। स्पष्टतः उसकी सत्ता का निश्चय वर्तमान में ही संभव है; अतः उसका न भूत होता है न भविष्य, – 'न भूतो न भविष्यति वर्तमानेस्तु वर्तते।'

अतीत स्मृति है, भविष्य अनुमान। इसलिये अस्तित्व का स्वरूप प्रत्यक्ष और तात्क्षणिक अनुभव से भिन्न कुछ नहीं है। व्यक्ति क्षण में जीता है और इसीलिये मानव–इतिहास व्यर्थ है। निरंतरता जैसी कोई चीज नहीं है। क्षण–बोध की तीव्रता के कारण मृत्यु का संत्रास उत्पन्न होता है। स्वतंत्र कर्ता (?) जब यथार्थ–जगत् की सीमाओं (मृत्यु, सामाजिक–प्रतिबंध, रूढ़ियाँ, नियम–विधान, वैचारिक और भौतिक विरोध तथा मतभेद आदि) द्वारा बाधित होता है तो चयन की पीड़ा तथा अकेलापन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार 'अनुभववादी दृष्टि' से मुक्ति की खोज करने वाले इस दर्शन में चयन की स्वतंत्रता की परिणति अनिश्चय और चयन की पीड़ा में, क्षणबोध

की परिणति मानवेतिहास की व्यर्थता और मृत्यु के संत्रास में तथा कर्ता की स्वतंत्रता की परिणति अकेलेपन में होती है।

द्वन्द्वात्मक विचारधारा के अनुसार कर्ता पूरी तरह स्वतंत्र नहीं है। वह बाह्य–जगत् द्वारा तो सीमित है ही; स्वयं इस तथ्य द्वारा सीमित है कि इस विश्व या समाज का अस्तित्व उसके अपने विचारों और भावनाओं की संरचना में है। इस प्रकार इस तथाकथित मुक्त कर्ता के अंदर बाहरी जगत् और इस प्रकार संरचनायें निहित हैं। अस्तित्व अपने–आप में सार्थक नहीं है। उसका एक मानवीय तथा सामाजिक आधार है। इसलिये मानवीय तथा सामाजिक विज्ञानों में मूल्यों को तथ्यों से पृथक् नहीं किया जा सकता। असतता में एक 'निरंतरता', क्षणप्रवाह में एक 'उत्पत्ति और इतिहास' तथा विषयपरकता में 'वस्तुनिष्ठता' निहित है। इसलिये व्यक्ति की मुक्ति क्षण में सिमटकर अकेलापन भोगते हुए किसी काल्पनिक चयन की पीड़ामय स्वतंत्रता में न होकर वास्तविक प्राकृतिक एवं सामाजिक अवरोधों से सामूहिक संघर्ष में निहित है। 'मुक्तिबोध' ने इसे अत्यंत मार्मिक तथा सटीक शब्दों में कहा है–

'अपनी मुक्ति के रास्ते अकेले में नहीं मिलते'।

दार्शनिक स्तर पर अस्तित्ववाद का धुर–विरोधी चिंतन संरचनावाद प्रतीत होता है। परंतु जिस प्रकार अस्तित्ववाद 'वस्तु' के अस्तित्व से इंकार करता है तथा व्यक्तिगत कर्ता की चेतना को शुद्ध तथा पूरी तरह स्वतंत्र मानता है, संरचनावाद व्यक्तिगत (या समूहगत) कर्ता के अस्तित्व से इंकार करता है और संरचनाओं को ही सब कुछ मानता है। इस प्रकार पहला जहाँ काल्पनिक मुक्ति के रास्ते पर भटककर शासक–शोषक व्यवस्था तथा उसके भीतर के सामाजिक अवरोधों को मजबूती प्रदान करता है, वहीं दूसरा मनुष्य को तुच्छ, व्यर्थ यहाँ तक कि अस्तित्वहीन सिद्ध करके उसे संरचनाओं का दास बताता हुआ उसी व्यवस्था को मजबूती प्रदान करता है। ऊपर से धुर–विरोधी दिखते हुए भी दोनों विचार–व्यवस्थायें एक ही तरह की गलतफ़हमी की शिकार हैं।

सभी तरह का संरचनावाद (गोल्डमान के शब्दों में 'गैर–उत्पत्तिमूलक संरचनावाद') कर्ता (व्यक्ति या समूह) के अस्तित्व से और इसलिये ऐतिहासिक परिवर्तनों में मनुष्य की भूमिका से इंकार करता है। 'भाषामूलक संरचनावादियों' (सैसुए, रोलाँ बार्थ आदि) का मानना है कि भाषा ही यथार्थ को रचती है। वस्तुओं, घटनाओं आदि में स्वयं कोई अंतर्निहित अर्थ नहीं होता; उन्हें मनुष्य के विचारों और सोच से

यह अर्थवत्ता मिलती है। परंतु मनुष्य के विचारों में इस जगत् को भाषा ही रचती है, अतः वह भाषा में ही सोचता है और इसलिये अंततः भाषा ही उन्हें अर्थवत्ता देती है। इस प्रकार सैसुए के लिये वस्तुओं, घटनाओं, मानवीय अंतःक्रियाओं एवम् तद्जन्य अनुभवों का एक अर्थहीन जगत् है और इससे भिन्न चिह्नों और प्रतीकों (शब्दों) का दूसरा जगत्। दूसरा जगत् न तो पहले जगत् की छाया है, न ही सम्प्रेषण के लिये उपयोग में आने वाला उसका उपजगत्। चिह्नों के इस स्वतंत्र जगत् में किसी चिह्न का कोई निश्चित अंतर्निहित अर्थ नहीं है; उनके अर्थ केवल परम्परानुसार चली आ रही परिपाटी के कारण प्रचलन में है। प्रत्येक चिह्न का यदृच्छया अर्थ हो सकता है और इसलिये किसी चिह्न का अर्थ कई चिह्नों की किसी श्रृंखला में उसकी स्थिति पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में उनके अर्थ स्वेच्छ और सापेक्ष हैं। इस प्रकार भाषामूलक संरचनावाद के अंतर्गत वस्तुओं, घटनाओं, सामाजिक अंतःक्रियाओं और तद्जन्य अनुभवों की अर्थवत्ता चिह्नों और प्रतीकों के ऐसे क्रमचय और संचय का परिणाम बन जाती है जो स्वयं किसी आंतरिक अर्थ से रहित हैं तथा जिनके साथ अर्थ या तो चस्पा किया जाता है या परिपाटी से चलता रहता है। अर्थहीन यथार्थ–जगत् तथा भाषा में रचित अर्थवान् जगत् के बीच की यह विभाजन–रेखा ही भाषामूलक संरचनावाद की अंधरेखा है।

संरचनावादी मानते हैं कि ऐतिहासिक परिवर्तन मनुष्य नहीं, बल्कि संरचनायें लाती हैं। उनके अनुसार संरचनायें (सामाजिक तथा दूसरी भी) परिवर्तन की आन्तरिक प्रक्रिया द्वारा ही बदलती रहती है। इसीलिये संरचनावादी कर्ता के रूप में मनुष्य के अस्तित्व का इस तरह मखौल उड़ाते हैं, मानो हाड़–मांस का यह सोचने–विचारने वाला क्रियाशील मानव जैव–व्यक्तित्व मात्र हो! संरचनावादी मानते हैं कि मनुष्य नहीं, अपितु संरचनायें ही क्रियाशील हैं।

द्वन्द्वात्मक विचारधारा के अनुसार संरचनायें परिवर्तन की महज़ आंतरिक प्रक्रिया द्वारा ही नहीं बदलती रहतीं। ये कर्ता (व्यक्ति या समूह) ही होते हैं जो संरचनाओं को बदलते हैं और इतिहास का निर्माण करते हैं। यह सही है कि मनुष्य के विचार भाषा में रचित होते हैं, परिवर्तन की प्रक्रिया में पुरानी संरचनाओं का स्थान नयी संरचनायें लेती हैं, परंतु यह महज़ आंतरिक प्रक्रिया ही नहीं है। संरचनावादियों का यह मत कि मनुष्य (व्यक्ति या समूह) को कर्ता मानना रोमानी दृष्टि का शिकार होना है, गलत है। परिवर्तन की प्रक्रिया में वस्तुजगत् भी बदलता है तथा इन संरचनाओं को धारण करने

वाला कर्ता (मनुष्य) ही उसे सामूहिक प्रयासों से बदलता है। यथार्थ को बदलने की इस प्रक्रिया में ही मनुष्य को उसका ज्ञान होता है।

इस प्रकार सभी मानवीय तथा सामाजिक तथ्य मानवीय व्यवहार के ही परिणाम हैं और इसलिये किसी भी क्रिया को उसके कर्ता से पृथक् करके न तो समझा जा सकता है, न ही परिभाषित किया जा सकता है। यह एक स्पष्ट–सी बात है कि मनुष्य की क्रियाओं के पीछे कुछ–न–कुछ विवेक अवश्य होता है अर्थात् मानवीय–व्यवहार के विभिन्न रूप अर्थपूर्ण होते हैं। इस प्रकार मनुष्य के क्रियाकलाप प्रकार्यात्मक होते हैं। द्वन्द्वात्मक विचारधारा के विपरीत संरचनावाद क्रिया पर व्यवस्था की दृष्टि से ही विचार करता है।

प्रसिद्ध संरचनावादी–समाजशास्त्री टालकॉट पारसन्स ने व्यवस्था के हर अवयव (अर्थात् सामाजिक–तंत्र की विभिन्न संस्थाओं) को प्रकार्यात्मक ही माना है। उनकी इस अतिवादी मान्यता का खण्डन स्वयं उन्हीं के शिष्य तथा प्रसिद्ध संरचनावादी–समाजशास्त्री रॉबर्ट के. मर्टन ने किया। मर्टन ने व्यवस्था में अपकार्यात्मक तत्वों की उपस्थिति को भी स्वीकृति दी परंतु संरचनावाद की मूल दृष्टि के कारण उन्होंने भी क्रियाओं पर प्रदत्त संरचनाओं के पक्ष से ही विचार किया है। उनके अनुसार जो कुछ भी प्रदत्त संरचना को बनाये रखने में सहयोगी नहीं है, 'अपकार्यात्मक' है। इस प्रकार प्रदत्त संरचनायें और उन्हें बनाये रखने में सहयोगी प्रकार्य तथा विरोधी अपकार्य – येमिलकर सामाजिक–तंत्र कहलाते हैं। संरचना व्यवस्था का स्थिर पक्ष है और प्रकार्य गतिशील।

स्पष्ट है कि संरचनावादियों की दृष्टि स्थिरतावादी है। अपनी इतिहास–विरोधी प्रवृत्ति के कारण वे समकालीनता को ही वैज्ञानिकता और वस्तुनिष्ठता का पर्याय समझते हैं। स्वयं प्रसिद्ध मार्क्सवादी–संरचनावादी आल्थोस्यू 'दास कैपिटल' को एक ऐसी पुस्तक मानते हैं जिसमें पूँजीवादी समाज का समकालिक–संरचानात्मक अध्ययन किया गया है।

संरचनावादी सामाजिक कार्यों की प्रकार्यात्मकता और अपकार्यात्मकता पर व्यवस्था के पक्ष से विचार करते हैं। परंतु द्वन्द्वात्मक विचारधारा के अनुसार तो 'अपकार्यात्मक' शब्द ही निरर्थक है। जिन चीजों को संरचनावादी किसी विद्यमान संरचना के लिये अपकार्यात्मक मानते हैं, स्पष्टतः वे उस संरचना के अंदर उभर रहे नये तत्वों (नयी संरचना का आरंभिक रूप) के सापेक्ष प्रकार्यात्मक होती हैं। इस प्रकार

यदि अपकार्यात्मक तत्व उभर रहे हों तो उससे संकेत जाता है कि विद्यमान विचार और व्यवहार बदलते हुए समाज के साथ सही नहीं बैठ रहे हैं, लोगों में सोचने–विचारने के नये तरीक़े विकसित हो रहे हैं, नयी संरचना जन्म ले रही है जिसमें ये विचार और व्यवहार प्रकार्यात्मक होंगे। निष्कर्षतः, मानवीय व्यवहार अतीत के सापेक्ष अपकार्यात्मक तथा भविष्य के सापेक्ष प्रकार्यात्मक होते हैं।

संरचनावादी कर्ता के रूप में मनुष्य के अस्तित्व से और इस प्रकार मानवीय क्रियाओं की अर्थवत्ता और सार्थकता से इंकार करते हैं तथा संरचनाओं पर व्यवस्था के पक्ष से विचार करने के कारण समकालीनता पर ज़ोर देकर उन्हें विकास की अवधारणा से अलग करके समझने की वकालत करते हैं और उनकी ऐतिहासिकता का विरोध करते हैं। परंतु ये मार्क्स और फ्रॉयड दोनों के ही चिन्तन के आधारभूत तत्व हैं। हेगेल, मार्क्स और फ्रॉयड के चिन्तन में कुछ सर्वनिष्ठ तत्व हैं। पहला तो यह कि तीनों के अनुसार प्रत्येक मानवीय तथ्य अर्थपूर्ण है। स्वप्न और उन्माद से लेकर सांस्कृतिक कार्य, कलाकृतियां और ऐतिहासिक प्रक्रियाओं तक सारे मानवीय तथ्य मनुष्यों के 'अर्थपूर्ण क्रियाकलापों' के परिणाम हैं। दूसरी बात यह है कि इन मानवीय तथ्यों की अर्थवत्ता को तभी प्रकाश में लाया जा सकता है, जब इन अस्पष्ट तथ्यों को समाकलित करके, तमाम अन्य तथ्यों के साथ सुसम्बद्ध रूप में उपस्थित करते हुए एक संरचना निर्मित की जाये। तीसरी तथा अंतिम बात यह है कि इस संरचना को केवल उस विकास–प्रक्रिया (बृहद् संरचना) के अंतर्गत ही समझा जा सकता है, जिसमें इसका जन्म हुआ है। यह विकास–प्रक्रिया फ्रॉयड के लिये जीवशास्त्रीय तथा हेगेल और मार्क्स के लिये ऐतिहासिक है; यहीं से इनमें मतभेद शुरू होता है। उत्पत्तिमूलक संरचनावाद इन तीनों आधारों को लेकर चलता है, जो कि मार्क्स के चिंतन के आधारभूत तत्व हैं। इसीलिये गोल्डमान इतिहास को एक ऐसी 'संरचना–विरचना –प्रक्रिया' के रूप में देखते हैं, जो मनुष्य के प्रयासों के कारण अस्तित्व में है। सम्पूर्ण यथार्थ एक गतिशील प्रक्रिया है; इसलिये समाजविज्ञानों के क्षेत्र में शोध एक ऐसी प्रक्रिया का अध्ययन है, जो मनुष्य के क्रियाकलापों के कारण अस्तित्व में है। इस प्रकार अन्वेषक को यह पता लगाना ज़रूरी है कि वह किस वस्तु की खोज कर रहा है तथा क्या चीजें हैं जो बदल रही हैं। 'बोध' की क्रिया के कारण सम्पूर्ण मानव–व्यवहार के अंतर्गत कुछ 'अपरिवर्तियों' को जन्म देना पड़ता है जिन्हें 'वस्तु' कहते हैं। ये वस्तुयें चिन्तन के सभी स्तरों पर उत्पन्न की जाती हैं। अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली में 'बोध और व्याख्या का द्वैत' नहीं रहना चाहिये। इसलिये शोध हमेशा दो स्तरों पर

साथ–साथ होता है– एक तो उस वस्तु (कोई सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, आर्थिक, ऐतिहासिक तथ्य) के स्तर पर, जिसे समझना है; दूसरे उस विद्यमान संरचना के स्तर पर जो वस्तु के चारों ओर उभर रही है तथा जहाँ पर उस वस्तु का अर्थ उत्पन्न होता है और वह प्रकार्यात्मक बनती है।

अब हम गोल्डमान की 'सामूहिक कर्ता' की अवधारणा पर विचार कर सकते हैं। हम जानते हैं कि मार्क्सवादी चिंतन के अनुसार सारे मानवीय तथ्य अर्थपूर्ण हैं; अतः मनुष्य के समूहगत क्रिया–कलापों का कोई–न–कोई कर्ता अवश्य होना चाहियें कुछ लोगों को कर्ता की समूह के रूप में कल्पना आपत्तिजनक लगती है। इसका कारण यह है कि वे अनुभववादी पद्धति से प्रकार्य को समझने की कोशिश करते हैं। 'कर्ता' वह है जिसके द्वारा एक कार्य और उसके परिणाम को समझा जा सके। इस प्रकार कर्ता की पहचान प्रकार्य से होती है। कामभाव के अतिरिक्त सारे मानवीय क्रियाकलापों के संबंध में यह कर्ता व्यक्तियों का समूह ही हो सकता है; एक व्यक्ति नहीं।यह समाज–विज्ञानों का एक सिद्ध तथ्य है कि शिकार और कृषि से लेकर कला एवं संस्कृति–संबंधी रचनाओं तक सारे ऐतिहासिक क्रियाकलाप तभी सुबोध और तार्किक हो सकते हैं,जब उन्हें 'समूहगतकर्ता' से सम्बन्धित करके देखा जाये।हाँ, ये समूह स्थिर और निश्चित अवश्य नहीं रहते। उनको निर्मित करने वाले व्यक्ति बदलते रहते हैं। एक निश्चित देश–काल के अन्तर्गत असंख्य समूह विभिन्न प्रकार्यों में संलग्न रहते हैं। इनमें से कुछ समूहों के क्रियाकलाप समाज को उसकी समग्रता में रचने की प्रवृत्ति रखते हैं और इसलिये अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। ये मनुष्य–मनुष्य तथा मनुष्य–प्रकृति के संबंधों को एक संरचना देते हैं। इन समूहों की स्थिति विशिष्ट हो जाती है,क्योंकि ये सामाजिक–संरचना के केवल कुछ हिस्सों पर ही नहीं, बल्कि पूरे मानव–संसार पर क्रिया करने की प्रवृत्ति रखते हैं। ये समूह समान परिस्थिति, प्रेरणा और उन्मुखता के कारण उस ऐतिहासिक परिस्थिति के भीतर अपनी प्रकार्यात्मक–मानसिक संरचनाओं में सामूहिक चेतना का पूर्णतम संभव विस्तार करते हैं। इन मानसिक–संरचनाओं को गोल्डमान 'विश्व–दृष्टि' कहते हैं।

इस प्रकार विश्व–दृष्टियाँ विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत तथ्य नहीं हैं। एक सामाजिक समूह या वर्ग की 'समूहगत चेतना'/'परावैयक्तिक चेतना' ही विश्व–दृष्टि को निर्मित करती है। गतिशील यथार्थ के अंतर्गत जीवन व्यक्तिगत और समूहगत दोनों ही स्तरों पर व्यक्त होता है, क्योंकि मनुष्य में अपने परिवेश के साथ एक 'सुसंगत संतुलन' स्थापित करने एवं उसे बनाये रखने की प्रवृत्ति होती है। उसके इस

प्रकार्य में मनुष्य–मनुष्य और मनुष्य–प्रकृति के बीच जो संबंध बनते–बिगड़ते हैं, उनका एक 'सुसंगत और एकान्वित परिप्रेक्ष्य' होता है। 'विश्व–दृष्टि' से गोल्डमान का तात्पर्य इसी परिप्रेक्ष्य से है। व्यक्तियों के निजी विचारों में प्रायः ऐसी सुसंगति और एकान्विति का अभाव रहता है; इसलिये विश्वदृष्टि बिरले ही उनसे पूरी तरह मेल खाती है। इस प्रकार विश्व–दृष्टि व्यक्तिगत–विचारों का रूप नहीं है, बल्कि एक 'अवधारणात्मक प्रारूप' है। लेकिन इसका यह भी मतलब नहीं है कि वर्ग या समूह की विश्व–दृष्टि उसे निर्मित करने वाले व्यक्तियों की चेतना से बाहर कहीं हवा में टिकी रहती है। यह ऐतिहासिक प्रक्रिया में अस्तित्व में आती है तथा किसी वर्ग या समूह को निर्मित करने वाले व्यक्तियों के वास्तविक विचारों की संरचना में पायी जाती है। ऐतिहासिक प्रक्रिया के अंतर्गत मनुष्य के सचेत प्रयासों से इसका विकास होता है। यह किसी एक व्यक्ति, परिवार, पीढ़ी या राष्ट्र की निर्मिति नहीं है। इस प्रकार एक पद में कहें तो विश्व–दृष्टियाँ सामूहिक–प्रकार्यात्मक–मानसिक–संरचनायें' हैं, जो सामाजिक वर्गों या समूहों के वास्तविक जीवन में निहित रहती हैं। ये समूहात्मक– प्रकार्यात्मक –मानसिक –संरचनायें इतिहास में सक्रिय हिस्सा लेती हैं और प्रधान दार्शनिक, कलात्मक और साहित्यिक रचनाओं में व्यक्त होती हैं। अतः विश्व–दृष्टि की अभिव्यक्ति दर्शन, कला और साहित्य में अलग–अलग रूपों में होती है; लेकिन उसका मूल रूप एक ही होता है। दर्शन में यह 'अवधारणा', कला में संवेदन–बिम्बों तथा साहित्य में भाषा के स्तर पर व्यक्त होती है। इस प्रकार दर्शन से कला और साहित्य का यह भेद अत्यंत महत्वपूर्ण है कि विश्वदृष्टि की अभिव्यक्ति दर्शन में सामान्य अवधारणाओं के द्वारा होती है, जबकि कला और साहित्य में व्यक्तियों और वस्तुओं के सहारे एक काल्पनिक संसार रचा जाता है और विश्वदृष्टि की अभिव्यक्ति भाषा में रचित इस संसार में निहित अनुभूतियों एवं चरित्रों की अंतःक्रियाओं में होती है। इसी से इनके अपने अलग–अलग स्वायत्त क्षेत्र बन जाते हैं।

इस प्रकार विश्व–दृष्टि की अभिव्यक्ति किसी दार्शनिक व्यवस्था या कलाकृति की वैधता का एक प्रतिमान भी है। कोई दार्शनिक व्यवस्था केवल इसलिये वैध नहीं होती कि उसमें 'सत्य को प्रमाणित' किया जाता है। इसी प्रकार कलाकृति की वैधता का भी एकमात्र आधार उसमें यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं है। यथार्थ से कोसों दूर पूरी तरह कल्पना–केंद्रित (परी–कथायें, काल्पनिक लोरियां आदि) कृतियों का भी कलात्मक मूल्य होता है। दार्शनिक व्यवस्था या कलाकृति इसलिये वैध होती है कि इसमें एक सुसंगत और एकान्वित विश्वदृष्टि अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार कलाकृति की वैधता

के यथार्थ से परे अपने आंतरिक नियम होते हैं। एक वैज्ञानिक सिद्धांत का मूल्य गलत सिद्ध हो जाने के बाद पूरी तरह समाप्त हो जाता है, लेकिन एक अवधारणात्मक व्यवस्था या कलाकृति त्रुटिपूर्ण और यथार्थशून्य होकर भी क्रमशः अपना दार्शनिक या कलात्मक मूल्य रखती है।

गोल्डमान के अनुसार विश्व–दृष्टि की अवधारणा की उपयोगिता केवल एक दार्शनिक व्यवस्था या कलाकृति की आंतरिक संगति और अर्थवत्ता को समझने में नहीं है, बल्कि उसके ऐतिहासिक प्रकार्यों को समझने में भी है। समस्या केवल यही है कि विश्व–दृष्टियों की संख्या सामाजिक–समूहों और वर्गों की तुलना में अत्यंत सीमित है और परस्पर विरोधी समाजार्थिक स्थितियां कई बार एक ही विश्वदृष्टि में अभिव्यक्त हुई हैं।

'कविता के समाजशास्त्र' की गोल्डमान की पद्धति कृति की विश्वदृष्टि की संरचनाओं और सामाजिक समूह की विश्वदृष्टि की संरचनाओं में 'समधर्मिता' की खोज करने की है। सम्पूर्णता, परावैयक्तिक चेतना, सामूहिक कर्ता तथा विश्वदृष्टि की अवधारणाओं की तरह ही गोल्डमान की समधर्मिता की अवधारणा के भी दार्शनिक स्रोत जार्ज लुकाच ही हैं। लुकाच के अनेक दार्शनिक पदों को गोल्डमान ने समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में विकसित किया है। 'समधर्मिता' की अवधारणा का स्रोत भी लुकाच की 'तुल्यधर्मिता' की अवधारणा है। गोल्डमान के अनुसार तुल्यधर्मिता की खोज के अंतर्गत सामूहिक चेतना और सांस्कृतिक रचनाओं के कथ्यों के बीच समानतायें तो खोज ली जाती थीं, लेकिन कृति का विशिष्ट सांस्कृतिक चरित्र (यानी उसकी 'समृद्धि और एकता') छूट जाता था। रचना जितनी ही अमौलिक तथा सर्जक के व्यक्तिगत अनुभवों की सीधी नकल होती थी, उससे सम्बद्ध समानताओं (आंशिक अवयवों) की उतनी ही लम्बी सूची खोजने पर मिलती थी। इसके विपरीत उत्पत्तिमूलक संरचनावाद उनके बीच 'समधर्मिता' की खोज करता है। इसमें विशिष्ट सांस्कृतिक रचनाओं (जो एक एकान्वित, सुसंगत रचना–संसार की अभिव्यक्ति हैं।) की विश्वदृष्टि की संरचनाओं तथा किसी वर्ग या समूह की सामूहिक चेतना की संरचनाओं के बीच, इस बात का ध्यान रखते हुए, बोधगम्य संबंधों की खोज होती है कि, दो पूरी तरह समधर्मी प्रतीत होने वाली संरचनाओं की अंतर्वस्तुयें भिन्न भी हो सकती हैं। तात्पर्य यह है कि समधर्मिता, कल्पना की सृजनशीलता की विरोधी नहीं है। गोल्डमान इसे अपनी आलोचना की कसौटी भी बनाते हैं। उनके हिसाब से जिन रचनाओं में समधर्मिता सबसे अधिक सुसंगत रूप में व्यक्त होती है, वही रचनायें महान् होती हैं।

गोल्डमान ने अपने सिद्धांत और उसकी पद्धति का विकास मुख्यतः नाटक और उपन्यास के संदर्भ में किया है; परंतु उसे कविता के लिये भी उपयोगी माना है। कविता के संदर्भ में केवल एक लेख में, उन्होंने, इसका प्रयोग करने की कोशिश की है। कविता है 'सेन्ट जॉन पर्सी' की, और लेख का नाम है 'उत्पत्तिमूक संरचनावाद और शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण'।

गोल्डमान मानते हैं कि 'कविता–संग्रह' का रूप उपन्यास या नाटक से पूरी तरह भिन्न होता है। उपन्यास के अध्याय या नाटक के अंक की तरह कविता अपने अर्थ के लिये पूरे कविता–संग्रह पर निर्भर नहीं होती। कविता की स्थिति बहुत हद तक स्वतंत्र होती है। इसलिये कविता की व्याख्या में अर्थ की संरचनाओं के बजाय रूप की संरचनायें (व्याकरणिक, ध्वन्यात्मक, बिम्ब आदि) अधिक महत्वपूर्ण और निर्धारक होती हैं। इन्हें वह 'अवान्तर संरचनायें' कहते हैं। इस प्रकार 'उत्पत्तिमूलक –संरचनावादी–पद्धति' के अंतर्गत कविता की व्याख्या का तरीका यह है कि पहले एक 'सार्थक–सम्पूर्ण–संरचना' को सुनिश्चित किया जाये; जिसके अंतर्गत तथा जिसके आधार पर अवान्तर संरचनाओं का अध्ययन हो। साथ में कुछ विशेष सामाजिक समूहों या वर्गों की सामूहिक चेतना की गतिशील प्रकृति के सहारे इस समग्र प्रारूप के 'जन्म' का समाजशास्त्रीय अध्ययन हो। सामूहिक चेतना की संरचनाओं से कृति की संरचनाओं के सम्बन्ध की खोज में समधर्मिता की पद्धति को प्रयोग में लाया जाये।

गोल्डमान ने अपनी इस पद्धति का व्यावहारिक उपयोग अधिक नहीं किया है। इसके बावजूद उनका प्रयास इस आधार पर महत्वपूर्ण है कि उसमें 'कविता के समाजशास्त्र' के विकास की दिशा और संकेत खोजे जा सकते हैं।

गोल्डमान के विचारों पर अनेक आपत्तियां की गयी हैं, जिनमें से कई आक्षेपों का उन्होंने निराकरण भी किया है। पहला आक्षेप कलाकृतियों की व्याख्या में 'समाजशास्त्रीय श्रेणियों' के प्रयोग का है। गोल्डमान इससे इंकार करते हैं। वह मानते हैं कि रचना की सौंदर्यपरक गुणवत्ता उसकी समृद्धि, अर्थपूर्ण आन्तरिक संगति और रचना–रूप तथा रचना–संसार के बीच के सघन–संबंध पर ही निर्भर होती है। बोध की क्रिया का सम्बन्ध कृति के इस आन्तरिक–बाह्य संसार से है। परंतु बोध और व्याख्या में अंतर है। कृति के आंतरिक अर्थ और संगति को प्रकाश में लाने के लिये व्याख्या की पद्धति का प्रयोग करना पड़ता है। व्याख्या की पद्धति यह है कि कलाकृति को किसी बृहद् संरचना के अंतर्गत रखा जाये। यह संरचना भाषिक, मनोवैज्ञानिक या

सामाजिक हो सकती है। भाषिक या मनोवैज्ञानिक संरचनाओं के अंतर्गत कृति की सही और सम्पूर्ण व्याख्या नहीं हो पाती; इसलिये उसे सामाजिक संरचना के अंतर्गत रखकर भी समझना आवश्यक है। इस प्रकार व्याख्या की पद्धति का उद्देश्य कृति में समाजशास्त्रीय तत्वों को घुसाना नहीं है। कृति एक संगतिपूर्ण संरचना रखने (या न रखने) वाले 'टेक्स्ट' से अधिक कुछ नहीं है।

गोल्डमान के उपरोक्त स्पष्टीकरण से 'बोध और व्याख्या के द्वैत' सम्बंधी दूसरी आपत्ति सामने आती है। यह आपत्ति 'फ्रैंकफुर्ट स्कूल' के प्रसिद्ध आलोचक एडोर्नो की है। एडोर्नो के अनुसार बोध और व्याख्या का द्वैत मिथ्या है। साहित्यिक रचनाओं में उन्हें कभी एक–दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। बिना समझे कृति की आलोचना नहीं हो सकती और समझने की प्रक्रिया में ही आलोचना के क्षण आते हैं। आलोचना बोध से बाहर कोई चीज़ नहीं है।

गोल्डमान एडोर्नो के तर्क से सहमत हैं।[7] वह मानते हैं कि बोध और व्याख्या का अंतर केवल ऊपरी है। इसका कारण यह है कि, जब हम कलाकृति को एक वस्तु के रूप में देखते हैं, तो यथार्थ की गतिशील प्रक्रिया के अन्तर्गत यह वस्तु अपने निश्चित और स्थिर रूप में हमारे लिये बोधगम्य बन जाती है। इस प्रकार कृति को वस्तु के (स्थिर) रूप में लेना बोध की क्रिया की अनिवार्यता है। परंतु वास्तविकता यह है कि इतिहास की प्रक्रिया के अंतर्गत सब कुछ निरंतर संरचित–विरचित हो रहा है। इस प्रकार संरचना प्रक्रिया है। इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि बोध और व्याख्या में पद्धति के विकास के लिये ऊपरी तौर पर भेद किया जाये। कविता की अर्थवत्ता को सामने लाने के लिये यह आवश्यक है। हो सकता है, कुछ आलोचकों की अंतःप्रज्ञा बड़ी प्रबल हो और वे कविता के आंतरिक अर्थ में सेंध लगाकर घुस जाते हों, लेकिन सब लोगों को ऐसी विलक्षण–क्षमतायें नहीं मिलतीं। अगर कविता रहस्यवादियों का अनहद–नाद नहीं है तो उसकी अर्थवत्ता को उजागर करने के लिये क्या एक व्यवस्थित आलोचना–पद्धति का होना ज़रूरी नहीं है? यह सही है कि अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली में बोध और व्याख्या का द्वैत नहीं रहना चाहिए। इसीलिए साहित्यिक रचनाओं का शोध दो स्तरों पर साथ–साथ होता है– एक तो उस वस्तु (कलाकृति) के स्तर पर; दूसरे उस संरचना–प्रक्रिया के स्तर पर जो उसके चारों ओर नयी संरचना के रूप में उभर रही है तथा जहाँ पर उस वस्तु का अर्थ उत्पन्न होता है और वह प्रकार्यात्मक बनती है।

तीसरी महत्वपूर्ण आपत्ति रचना में 'विश्वदृष्टि' की अभिव्यक्ति को लेकर हो सकती है। गोल्डमान के अनुसार दर्शन, कला और साहित्य विश्वदृष्टि की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। तब स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इन तीन अलग–अलग रूपों की आवश्यकता क्या है? उनका अलग–अलग अस्तित्व क्यों है? क्या यह तीनों परस्पर स्वतंत्र व्यवस्थाओं का एक तीसरी व्यवस्था में 'रिड्यूस्ड ट्रांसलेशन' नहीं है?

गोल्डमान इस आपत्ति को स्वीकार तो करते हैं, लेकिन वह इसे कलाकृति का विश्वदृष्टि में 'रिडॅक्शन' नहीं मानते। वह कहते हैं कि कलाकृति और विश्वदृष्टि सापेक्ष रूप से स्वायत्त हैं। व्याख्या की पद्धति का प्रयोग कलाकृति का विश्वदृष्टि में 'रिडॅक्शन' करने के लिये नहीं होता। विश्वदृष्टि तो एक अवधारणात्मक प्रारूप है, जिसकी स्थिति सामूहिक चेतना में होती है। इस विश्वदृष्टि के सहारे कलाकृति को समझने की चेष्टा की जाती है। विश्वदृष्टि साहित्यिक कृति की एकान्विति और सुसंगति का कारण है। दूसरी ओर कृति का अपना जटिल संसार है, जिसमें बहुत विविधता है। इसमें पात्र और उनके अनुभव हैं, सामाजिक अंतःक्रियायें हैं, प्रकृति है, तरह–तरह की ध्वनियां हैं, बिम्ब हैं और भाषिक कौशल हैं। एक श्रेष्ठ कृति में जटिल विविधता और चरम एकता के तनाव का सामंजस्य होता है। कृति–संबंधी यह धारणा काण्ट, हेगेल, मार्क्स और लुकाच के सौंदर्यशास्त्रीय चिंतन की परंपरा से आती है। इस प्रकार उपर्युक्त तीसरी आपत्ति को इन शब्दों में भी कहा जा सकता है कि गोल्डमान की पद्धति में एकता पर इतना अधिक ज़ोर है कि कृति की विविधतापूर्ण समृद्धि की उपेक्षा हो गयी है।[8] गोल्डमान ने अपनी पद्धति के परिष्कार का लगातार प्रयास किया है।

'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद और शैली वैज्ञानिक विश्लेषण' निबंध में वह लिखते हैं– "अवान्तर संरचनाओं की खोज के द्वारा 'एकता' की धारणा को विस्तृत करके शैली, मान्यताओं और शब्दों तक ले जाया जा सकता है।.... यदि यह परिकल्पना सही है, तो एक ऐसा समाजशास्त्रीय स्तर भी प्राप्त होगा पर उन मानसिक संरचनाओं की व्याख्या हो सकेगी, जो विश्वदृष्टि को निर्मित करती हैं। यह विश्वदृष्टि ही वह (कृति की) समग्र संरचना है जिसके अंतर्गत शैलीगत स्तर भी निहित है।"[9]

इस प्रकार गोल्डमान विश्वदृष्टि को रचना की एकान्विति से विस्तृत करके अवान्तर संरचनाओं तक ले जाने की इच्छा व्यक्त करते हुए इस प्रश्न को छोड़ देते हैं। परंतु यहाँ एक गंभीर प्रश्न उठता है कि रचना के अंतर्गत ये अवान्तर संरचनायें

आती कहाँ से हैं? रचना की जटिलता और आंतरिक–बाह्य रूप की संरचनात्मक विविधता से जुड़ा होने के कारण यह प्रश्न सौन्दर्यशास्त्र के अंतर्गत आता है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

ऊपर के विवेचन–विश्लेषण से स्पष्ट है कि 'कविता के समाजशास्त्र के स्वरूप पर विचार करते समय आलोचक को दो तरह के अतिरेकों से सावधान रहने की ज़रूरत है। इनमें से संरचनावादी दृष्टि के अतिरेक की हम विस्तृत रूप से चर्चा कर चुके हैं। यह सही है कि कविता एक सामाजिक–सांस्कृतिक कर्म है, परंतु वह सदैव प्रदत्त सामाजिक व्यवस्था में प्रकार्यात्मक ही नहीं होती। दूसरे शब्दों में, जिसे साहित्य के बाज़ार के अर्थ में साहित्य की दुनिया कहा जाता है, वह दरअसल साहित्य की असली प्रकृति को प्रमाणित नहीं करती। मार्क्स ने इसी अर्थ में पूँजीवाद को कला का दुश्मन तथा मुक्तिबोध ने कविता को जनचरित्री कहा है।

दूसरी ओर यह मान्यता भी एक अतिरेक ही है कि कविता समाजशास्त्रीय विचार–प्रणाली से ही बाहर है। यह मान्यता कि सम्प्रेषण से कविता की सामाजिकता का संबंध नहीं है, क्योंकि कविता संप्रेषण न हो कर मात्र कलात्मक निर्मिति है और इसलिये असामाजिक है; गलत है। जे. पी. वार्ड ऐसा मानने वाले आलोचकों में से एक प्रमुख आलोचक तथा समाजशास्त्री हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'कविता और समाजशास्त्रीय विचार' में विस्तृत रूप से विचार करने के बाद इस मत का प्रतिपादन किया है कि कविता न केवल समाजशास्त्रीय विचार की पकड़ से बाहर है, बल्कि उसकी विरोधी भी है। इस पुस्तक में उन्होंने पांच प्रधान तथा भिन्न–भिन्न समाजशास्त्रीय विचारों का चयन करके, उनके आधार पर, अंग्रेजी के पांच बड़े कवियों स्पेन्सर, डॉन, मिल्टन, पोप तथा वर्ड्सवर्थ की रचनाओं को अलग–अलग अध्यायों में समझने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त 'सामाजिक विचार' से भिन्न जिस आधुनिक अर्थ 'समाजशास्त्रीय विचार' पद का प्रयोग किया जाता है, उसके उदय के बाद के कुछ कवियों –बॉदलेयर, मलार्मे, स्टीवेन्स, विलियम्स, यीट्स, इलियट, पाउण्ड, हार्डी आदि की कविताओं के साथ समाजशास्त्रीय विचारों के सम्बन्ध की पड़ताल भी उन्होंने की है।

उनका मानना है कि एक तो कविता का समाज से प्रायः सम्बन्ध ही नहीं होता और जब कभी होता भी है तो दोनों एक–दूसरे से तनी हुई स्थिति में ही रहते हैं। कविता 'सामाजिक' हो ही नहीं सकती। अधिक से अधिक वह समाज पर नियंत्रण ही

0,152,1,N174:9 152p2 21 TH-10104

हो सकती है। अंत में वह यह भी कहते हैं कि कविता यथार्थ के सामाजिक आयाम से दूर भागती है।[10]

इस 'सामाजिक' में समाज की एक विकृत समाजशास्त्रीय समझ छिपी है। 'कविता समाज पर नियंत्रण तो हो सकती है, पर सामाजिक नहीं' का अर्थ यही हो सकता है कि, कविता समाज के नियमित और क्रमबद्ध ढाँचे का सिर झुका कर पालन नहीं करती। यह मान्यता समाज की उस विकृत स्थिरतावादी–समाजशास्त्रीय समझ का परिणाम है, जो समाज और सामाजिक–व्यवस्था को पर्याय मानती है। समाज के दो पक्ष हर क्षण होते हैं– सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक अव्यवस्था। समाजशास्त्र की ऐतिहासिक दृष्टि, समाज को स्थिर संरचना के रूप में न देखकर, 'संरचना–प्रक्रिया' के रूप में देखती है। अतः सामाजिक अव्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, नयी उभर रही संरचना को विद्यमान संरचना के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है।

दरअसल समाज में जीने वाले मनुष्यों के जीवन के सामूहिक और व्यक्तिगत दोनों पक्ष होते हैं। उनमें बहुत कुछ व्यक्ति–स्वातंत्र्य की भावना, जैव–विशिष्टताओं तथा सौन्दर्याभिरूचि–सम्बन्धी मानसिक गुणों से भी निर्देशित होता है। इनके कारण समाज कभी भी पूरी तरह व्यवस्थाबद्ध नहीं चलता। व्यवस्था में परिवर्तन तथा विस्थापन का कारण बदलती हुई मानव आवश्यकतायें और तद्जन्य सामाजिक अव्यवस्था होती हैं। इस प्रकार व्यवस्था में आने वाले बदलाव सामाजिक व्यवस्था और अव्यवस्था के द्वन्द्व का परिणाम हैं। ये बदलाव समाज के सदस्य लाते हैं। इसीलिये कोई भी सामाजिक व्यवस्था यह प्रयास करती है कि अव्यवस्था और उसे उत्पन्न तथा विस्तृत करने वाले कारण सदैव प्रच्छन्न तथा अदृश्य बने रहें। इसके लिये यह अत्यन्त ज़रूरी है कि व्यवस्था समाज के सदस्यों की सामूहिक ज़रूरतों तथा (उपरोक्त) निजी विशिष्टताओं के साथ घनिष्ठ संगति बनाए रखे। अनेक कारणों से किसी भी समय इस सम्पूर्णता को व्यवस्था नहीं रख पाती। इसलिये सामाजिक व्यवस्था तथा व्यक्तिगत जीवन के बीच हर क्षण एक विशिष्ट सम्बन्ध रहता है। यह सम्बन्ध हर व्यक्ति के लिये अलग–अलग होता है; लेकिन उसका एक सामूहिक पक्ष भी होता है। इस पक्ष के सहारे ही व्यक्तिगत अनुभवों की ओर बढ़ा जा सकता है। कविता में इस विशिष्ट सम्बन्ध की इतने गहरे स्तर पर अभिव्यक्ति होती है कि वह सभी लोगों के लिये महत्वपूर्ण हो जाती है। इस प्रकार कविता सामाजिक व्यवस्था का सिर झुका कर पालन नहीं करती, बल्कि उससे एक विशिष्ट और अद्वितीय सम्बन्ध बनाती है। इसे

स्पष्ट करने के लिये, उदाहरण के तौर पर, 'निराला' की एक प्रसिद्ध कविता की ये पंक्तियाँ देखें–

"स्नेह–निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है।।"

इन पंक्तियों में बँधे बिम्ब में एक विशिष्ट तथा अद्वितीय अनुभव निर्मित हुआ है। इस अनुभव की उत्पत्ति, विशिष्टता, अद्वितीयता, पाठक को खींचने, दीर्घकाल तक स्मरण रहने, उद्वेलित करने, चिंतित करने और सक्रिय करने की शक्ति इसकी भाषा में निहित है। इसकी भाषिक समृद्धि अत्यंत सूक्ष्मता के साथ रचना की एकता से सम्बन्धित है। रचना की एकता इसके विशिष्ट और अद्वितीय अनुभव में निहित है। ये पंक्तियाँ जहाँ कवि के अनुभव की आंतरिकता की ओर संकेत करती हैं, वहीं इस अनुभव के कारणों और उनसे सम्बद्ध बाह्य की ओर भी इशारा करती हैं। यह रचना के आंतरिक और बाह्य रूप का तनाव है, जिसकी ओर मैंने एकदम आरंभ में संकेत किया था।

झरने के बह जाने के बाद बची हुई रेत का बिम्ब स्नेह से चुके हुए जीवन को ढोने वाले तन की शुष्कता, शून्यता और व्यर्थता का अहसास तो जगाता ही है, व्यक्ति की स्मृति में स्नेहसिक्त जीवन की समाप्ति की पीड़ा भी पैदा करता है। धीरे–धीरे चुकते जाने की इस प्रक्रिया का मौन–दृष्टा भी कवि स्वयं ही है। इस प्रकार भोक्ता और द्रष्टा की यह अंतर्द्वन्द्वपूर्ण स्थिति सृजन के कारण और उसकी सार्थकता की ओर संकेत करती है।

धीरे–धीरे चुकते जाने की प्रक्रिया के अनुरूप छंद की गति भी धीमी है; मानो झरने के धीरे–धीरे बहते जाने और पीछे रेत के शेष रह जाने एवं जीवन से स्नेह के चुकते जाने और शुष्क देह–मात्र के अवशेष–रूप में बच जाने की साथ–साथ चल रही प्रक्रियाओं की छाया छंद की धीमी संगीतात्मक गति के साथ–साथ चलने के बाद कविता के अंत में उत्पन्न अवसाद में पड़ रही हो! निर्झर के प्रतीक से जिस निरन्तर प्रवाह और मुक्ति का आनन्दप्रद अनुभव जन्म लेता है, उससे स्नेह का अभाव और गहरा हो जाता है। पंक्तियों की धीमी लय में अचानक 'बह' तथा 'रह' शब्दों पर होने वाला स्वरपात जीवन के सार–रूप 'स्नेह' की अंतिम बूंद के स्खलन (समाप्ति) की ओर संकेत करता हुआ एक विचित्र अवसादमय–आघात को सजीव करता है।

उपरोक्त पंक्तियाँ अपने सफल बिम्ब, लय और भाषा के कारण पाठक को आकर्षित करके लम्बे समय तक अपने साहचर्य में रखती हैं, जिससे वह इनमें निहित अवसाद तथा संवेदनात्मक–आघात से प्रभावित होता रहता है। अंततः, वह इसके कारणों और उनके आशयों को समझने और उनके विरूद्ध सक्रिय होने की ओर प्रेरित होता है। इस स्तर पर आकर 'लोकमंगल' की प्रक्रिया पूरी होती है, जो रचना के मूल्यांकन की अंतिम तथा व्यापक कसौटी है।

आलोचना का कार्य रचना में निर्मित अनुभव की अर्थवत्ता को पकड़ना है। हमने देखा कि इस कविता में रचित अनुभूति की संरचनायें एक प्रक्रिया के अंत की सूचना देती हैं। तब क्या कविता की अर्थवत्ता को पूरी तरह सामने लाने के लिये समाज में इस 'अंत' के कारणों की खोज नहीं होनी चाहिए? और क्या यह कार्य बिना किसी व्यवस्थित समाजशास्त्रीय दृष्टि के संभव है?

जे. पी. वार्ड ने कविता की सामाजिकता का खंडन करते हुए अपनी यह मान्यता रखी है कि कविता की भाषा अंतःनिर्देशात्मक होती है। यह स्वाभाविक भी है। एक बार यह मान लेने के बाद कि, कविता समाज और यथार्थ से दूर भागती है, अगला निष्कर्ष यही हो सकता था कि, कविता की भाषा, भाषा के सामाजिक रूप से दूर भागती है तथा या तो संगीत जैसी स्वतःसंपूर्ण व्यवस्था की ओर या फिर मौन की ओर उन्मुख होती है। वार्ड के अनुसार बोलचाल की भाषा एक निश्चित सामाजिक सन्दर्भ में ही अर्थपूर्ण होती है, परंतु कविता की भाषा संदर्भ–सीमित नहीं होती।

वार्ड की ये आपत्तियाँ कविता के समाजशास्त्रीय–सौंदर्यशास्त्र की कुछ समस्याओं को सामने लाती हैं। दरअसल कविता रचने में बोलचाल (संप्रेषण) की भाषा का प्रयोग किया गया है, या उससे भिन्न भाषा तलाश की गयी है; यह कोई सपाट प्रश्न नहीं है इस पर हर कवि के संदर्भ में अलग से विचार करने की जरूरत होती है। यह कवि की समस्या है कि वह भाषा के किस रूप और स्रोत का उपयोग करे? महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रयुक्त भाषा और भाषा का प्रयोग ऐसा हो कि, उससे निर्मित रचना का आंतरिक रूप कवि के कथ्य को सफलतापूर्वक ध्वनित करता हो तथा उसे अभीष्ट पाठक तक पहुँचाता हो। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये कवि भाषा के प्रयोग से कविता के आंतरिक रूप को रचता है। इसलिये कविता एक सीमा तक निर्मिति भी है, परंतु अंतिम रूप से उसका लक्ष्य सफल संप्रेषण ही है। इसी सीमा तक और इसी अर्थ में कविता की भाषा अंतःनिर्देशात्मक होती है।

परंतु वार्ड इस समस्या को दूसरे ही कोण से उठाते हैं। उनके अनुसार, जब कविता समाज–नियम–बद्ध भाषा से परे जाने का प्रयास करती है, अर्थात् सामाजिक परिस्थितियों और प्रतिबन्धों से बाहर जाने की कोशिश करती है, तो उसे पुनः उसी सामाजिक संदर्भ में सीमित करके अर्थ निकालने की कोशिश कविता की प्रकृति से विरोधी कार्य हैं। उनके अनुसार कविता में भाषा की सामाजिकता और अंतःनिर्देशात्मकता के बीच तनाव रहता है। (वास्तव में यह तनाव कविता के बाह्य तथा आंतरिक रूप के बीच होता है।) वार्ड तथा दूसरे आलोचकों का यह प्रश्न महत्वपूर्ण है; इसलिये इस पर थोड़ा विस्तार के साथ विचार करना ज़रूरी है। उनका आरोप है कि 'कविता का समाजशास्त्र' कविता को देश–काल के अंतर्गत सीमित कर देता है। कविता सामान्य बोलचाल (संप्रेषण) की भाषा का प्रयोग न करके चिह्नों और प्रतीकों की एक अपनी व्यवस्था खड़ी करती है। स्पष्टतः, ऐसा वह प्रदत्त परिस्थितियों, प्रतिबन्धों (देशकाल की सीमाओं) से पार जाने के लिये करती है। इस प्रयास से कथ्य और भाषा में जो तनाव उत्पन्न होता है, उससे कविता सामान्य अर्थ से परे चली जाती है। अतः जब कविता स्वयं देश–काल से बाहर जाना चाहती है, तो उसे उसी के अंतर्गत रखकर देखना उसकी हत्या करने की तरह है।

इस शंका का समाधान यही हो सकता है कि 'कविता का समाजशास्त्र' कविता का केवल समकालिक अध्ययन नहीं होना चाहिये लेकिन अपने देश–काल से बाहर जाने की कविता की इस प्रकृति का कोई बोधगम्य कारण और अर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से ही समझा जा सकता है, किसी दार्शनिक–रहस्यवादी या कलावादी दृष्टि से नहीं। 'कविता के समाजशास्त्र का इस बात से कहीं कोई विरोध नहीं है कि, कविता उतनी ही अधिक सार्थक होती है, जिस सीमा तक वह देश और काल की सीमाओं से परे जा सके। परंतु क्या सार्थकता का ज्ञान, बिना कविता की अर्थवत्ता को समझे संभव है? अर्थोद्घाटन की प्रक्रिया में ही कविता की सार्थकता सामने आती है, क्योंकि दोनों रचना के अंतर्गत अनन्य रूप से सम्बन्धित होती है।

हमने आरंभ में ही कहा था कि कविता और बाहरी दुनिया की संरचनायें एक ही समग्रता के हिस्से हैं तथा परस्पर एक–दूसरे से, और पूरी समग्रता से, सम्बधित हैं; इसलिये उन्हें इस समग्रता के अंतर्गत एक–दूसरे के सापेक्ष ही जाना और समझा जा सकता है। रचना की सार्थकता का सम्पूर्ण उद्घाटन समाज के सापेक्ष रचना की

संरचनाओं के बोध और विश्लेषण द्वारा ही संभव है। रचना के आलोक में समाज के सामान्य जीवन और चेतना को समझ पाना जितना ही अधिक संभव हो, रचना उतनी ही अधिक सार्थक होगी। इसे ही मुक्तिबोध ने 'सभ्यता–समीक्षा कहा है। 'कामायनी' के माध्यम से तत्कालीन सभ्यता की समीक्षा करने का आधार ही यह है कि, कविता और समाज की संरचनायें एक वृहद् गतिशील समग्रता के अंतर्गत एक–दूसरे से सम्बन्धित होती हैं। रचना की सार्थकता रचनानिष्ठ बहिर्मुखी प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के सहारे समाज और संस्कृति के विविध पक्षों का ऐतिहासिक प्रक्रिया की गतिशील समग्रता के अंतर्गत गहरा बोध संभव होता है। जैसा कि देखा गया है, कविता अपने समय और समाज की सीमाओं से संघर्ष करते हुए उपलब्ध भाषिक–सीमाओं से परे चली जाती है, और इस प्रक्रिया में समाज और संस्कृति के विभिन्न तत्वों से संघर्ष करते हुए उनसे सम्बधमूलक अनेक संकेत (आप अवशेष–चिह्न भी कह सकते हैं।) भाषा में छोड़ जाती है। दूसरे शब्दों में यह कविता के आंतरिक रूप का बाह्य रूप पर वह प्रभाव है, जिसके सहारे वह आंतरिक रूप को धारण करने में सक्षम होती है। इन्हीं संकेतों को हम 'अज्ञेय' के शब्दों में कवि के जीवन की चरम उपलब्धि 'अर्थवान् शब्द' मानते हैं। जो कविता देश–काल की सीमाओं से मुक्ति का जितना प्रबल संघर्ष करती है, वह उतने ही अधिक और सशक्त सम्बन्धमूलक संकेत भाषा में छोड़ जाती है; और इस तरह उतनी ही अधिक सार्थक होती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कविता या कला हमारे लिये इस वज़ह से बहुत महत्वपूर्ण है कि वह 'सभ्यता–समीक्षा' के लिये विश्वसनीय तथा सुनिश्चित आधार प्रस्तुत करती है। अनुभूति की संरचनायें केवल कला या कविता में ही व्यक्त होती हैं, जिनके सहारे समाज और संस्कृति की वास्तविक स्थितियों, समस्याओं और प्रक्रियाओं का बोध संभव हो पाता है। जैसा कि रेमण्ड विलियम्स ने कहा है, इस कार्य में केवल लोकमंगलकारी यानी श्रेष्ठ कवितायें ही नहीं, बल्कि रंजनकारी अर्थात् लोकप्रिय कला या कविता की अनुभूति की संरचनायें भी महत्वपूर्ण हैं। वैसे भी किसी युग के जीवन की सामान्य चेतना क्या है, इसे समझे बिना उस युग के श्रेष्ठ और प्रगतिशील का महत्व समझ पाना संभव नहीं है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने इसी बात की ओर संकेत करते हुए लिखा है, "साहित्य मनुष्य की सामाजिक चेतना और सामाजिक चिन्ता की देन है, इसलिये उसमें मानव–जीवन का वास्तविकता और संभावना की अभिव्यक्ति

होती है। वह यथार्थ और चेतना के सम्बन्धबोध का माध्यम ही नहीं, सामाजिक चेतना के निर्माण और सामाजिक जीवन की रूपान्तरणशीलता का साधन भी हैं।"[11]

"साहित्य के स्वरूप, उद्देश्य और विकास का सामाजिक विकास से गहरा संबंध है। साहित्य मानव–समाज के विकास का परिणाम है और प्रमाण भी। वह मनुष्य की सामाजिक चेतना की उपज है और सामाजिक चेतना को उपजाने वाला भी"[12]

कविता के महत्व का इसके साथ–साथ एक दूसरा आयाम भी है। वह हमारी सौन्दर्य–चेतना के विकास का भी परिणाम और प्रमाण दोनों है। साथ ही वह समाज में सौन्दर्य–चेतना उपजाती भी है। सौन्दर्य की भावना भी विचार की तरह मानव–विवेक की उपज है और इसलिये गतिशील है। सभ्यता के विकास के साथ वह भी परिवर्तित और विकसित होती है। किसी कालखण्ड में रचित कविता या कला से तत्कालीन समाज के संगठन और उसकी सौन्दर्यभावना के बारे में पता चलता है। प्राचीन काल में मनुष्य का प्रकृति से सीधा और निश्छल रागात्मक संबंध होता था। इसलिये हमारी 'क्लासिकल' रचनाओं में मानव तथा प्रकृति का सौन्दर्य भाषा के मधुर तथा झंकृत करने वाले संगीत में बँध कर जिस रूप में व्यक्त हुआ है, उसमें निश्छलता, पवित्रता, करूणा, सरसता और औदात्य का अद्भुत मेल है। रचना में व्यक्त सौन्दर्य तत्कालीन समाज के जीवन–बोध की ओर भी संकेत करता है। ऐसा इसलिये है, क्योंकि सौंदर्य की भावना अत्यंत सूक्ष्म रूप से हमारे जीवनबोध का निर्माण और परिष्कार करती है। सौन्दर्य की नयी भावना के आलोक में हमारी वृत्तियों का उदात्तीकरण होता है, जिससे ज्ञान के विस्तार और स्वीकृति के लिये मनोव्यवस्था का विकास होता है। आधुनिक काल में कविता का यह कर्म और भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नकली आवरण चढ़ जाते हैं और हम जीवन के लक्ष्य, मूल्य, यथार्थबोध तथा मानव–जीवन के स्वाभाविक राग–विराग सभी से वंचित रह जाते हैं। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार–

".... प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि–कर्म का एक मुख्य अंग है। ज्यों–ज्यों सभ्यता बढ़ती जायेगी, त्यों–त्यों कवियों के लिये यह काम बढ़ता जायगा। मनुष्य के हृदय की वृत्तियों से सीधा संबंध रखने वाले रूपों और व्यापारों को प्रत्यक्ष करने के लिये उसे बहुत–से पदों को हटाना पड़ेगा। इससे स्पष्ट है कि ज्यों–ज्यों हमारी

वृत्तियों पर सभ्यता के नये–नये आवरण चढ़ते जायेंगे, त्यों–त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जायेगी, दूसरी ओर कवि–धर्म कठिन होता जायेगा।"[13]

रामचन्द्र शुक्ल ने जो बात सभ्यता अर्थात् नगरीय सभ्यता के लिये कही है, वह पूँजीवादी नगरीय सभ्यता के लिये एक और स्तर पर लागू होती है। 'कवि–धर्म' इस वज़ह से भी कठिन होता जाएगा कि कविता किसी आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति नहीं करेगी। दूसरी ओर कविता की आवश्यकता तो बढ़ती जायेगी, परंतु उस आवश्यकता की गहराई को समझने वाले लोगों की संख्या घटती जायेगी। इसका कारण यह है कि पूँजीवाद अपने हित में मनुष्य की यथार्थबोध की स्वाभाविक प्रकृति और जिज्ञासा को बद्ध–सोच में बदल देता है। कविता बद्ध–सोच, अर्थात् यथार्थ की भ्रामक समझ (जिसे जे.पी. वार्ड अपने आग्रह के कारण यथार्थ का समाजशास्त्रीय आयाम कहते हैं।), को बड़े अनुभव के हित में ध्वस्त कर देती है। इससे उत्पन्न शून्य में हम सामाजिकता के अनावश्यक दबाव, सभ्यता के नकलीपन और विचार की बद्ध–प्रणाली से मुक्ति का अनुभव करते हैं। आचार्य शुक्ल ने इस स्थिति को 'रसदशा' कहा है। इस संदर्भ में नयी समीक्षा के 'रूपक–सिद्धांत' का ज़िक्र अनुचित न होगा, जिसके अनुसार रूपक तुलना भर नहीं है। वह प्रत्यक्ष में अतुल्य प्रतीत होने वाली दो वस्तुओं को तुलना द्वारा एक–दूसरे के करीब लाकर, हमारी बद्ध–सोच (जिसे वे यथार्थ की प्रचलित समझ कहते हैं।) को ध्वस्त कर देता है। यहाँ यह ध्यान रखने लायक है कि केवल चमत्कार की दृष्टि से कल्पना विरचित रूपक द्वारा पाठक की बद्ध–सोच को तोड़ना संभव नहीं है। उसके लिये कविता में भावना के संचार और ज्ञानात्मक आधार की भी ज़रूरत है; क्योंकि वह पाठक के साथ संवेदना और समझदारी दोनों स्तरों पर सम्बन्ध बनाती है।

इस प्रकार संक्षेप में कहें तो, कविता हमारी संवेदना को परिष्कृत और उन्नत करती है, सौन्दर्यबोध को सूक्ष्मता प्रदान करती है और इस तरह जीवन बोध को गहराई प्रदान करती है। वह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में छिपी विसंगतियों और अंतर्विरोधों को भावनात्मक–दृष्टि से गहनतर स्तरों पर उद्घाटित करके हमारी यथार्थदृष्टि को पैनी और गहरी बनाती है। वह जीवन के करूण तथा मार्मिक पक्षों को सामने लाकर जीने के प्रति आकर्षण पैदा करती है तथा विडम्बनात्मक और अर्थहीन स्थितियों को उजागर करके हमारी अंतरात्मा को झकझोरती है; ताकि हम अपने समाज को बदलकर एक बेहतर और सुन्दर समाज रचने की ओर प्रेरित हों। कविता मनुष्य में

कल्पना के आनन्द का संचार करके अपने समाज और संस्कृति के जीवन्त तत्वों को को परम्परा में गतिशील करती है। कविता जिस जीवनबोध को निर्मित करती है, वह हमारी भावनाओं को गहरी तथा विस्तृत बनाता है, कल्पना को मुक्त करके स्वतंत्र चिंतन की क्षमता देता है, सौन्दर्यबोध को परिष्कृत तथा सूक्ष्म करके हमें सभ्य बनाता है, तथा समाज की यथार्थ समझ विकसित करता है। इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में कवि–धर्म कठिन होते जाने की शुक्ल जी की बात स्पष्ट हो जाती है।

मुक्तिबोध ने इसी व्यापक अर्थ में कविता को सामाजिक–सांस्कृतिक कर्म कहा है।

संदर्भ–सूची

1 कविता के नये प्रतिमान, पृ.212

2 वही, पृ.213

3 विभ्रम और यथार्थ, पृ.11

4 कविता के नये प्रतिमान, पृ.101

5 वही, पृ.109

6 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ.44 ('समाज और साहित्य' निबंध से)

7 Cultural Creation in the Modern Society, p.34.

8 'उन्होंने स्वीकार किया है कि कारण चाहे जो भी हो हमारी पद्धति में कृति की एकता और वर्ग की विश्वदृष्टि से उसके सम्बन्ध की व्याख्या में कृति के अन्तर्गत् की जटिलता और समृद्धि की उपेक्षा हुई है।' 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ.158

9 Essay - 'Genetic Structuralism and Stylistic Analysis', (Book- Method in the Sociology of Literature), p.157

10 Poetry and Sociological Idea (J.P. Ward), p.6

11 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', पृ.31

12 वही, पृ.32

13 'कविता क्या है?' निबन्ध–'चिन्तामणि' भाग–1', पृ.95

दूसरा अध्याय

'कविता के समाजशास्त्र' के विकास–सम्बन्धी मुक्तिबोध के प्रयास

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है?' निबंध के अंतर्गत लिखा है कि 'जिस प्रकार जगत् अनेक–रूपात्मक है, उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है।'[1] वैसे इस कथन में कोई रहस्य नहीं है; हम 'जगत् की नाना गतियों' को देखते भी हैं और उनके 'मार्मिक स्वरूप' का साक्षात्कार तथा अनुभव भी करते हैं। लेकिन इस 'जिस प्रकार– उसी प्रकार' पद में एक विशेष सम्बन्ध छिपा है। इस संबंध को एक अन्य स्थान पर शुक्लजी ने थोड़ा अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया है– "संसार–सागर की रूपतरंगों से ही मनुष्य की कल्पना का निर्माण और इसकी रूपगति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है। सौन्दर्य, माधुरी, विचित्रता, भीषणता, क्रूरता इत्यादि की भावनायें बाहरी रूपों और व्यापारों से ही निष्पन्न हुई हैं।"[2]

मनुष्य को वस्तुजगत् अर्थात् बाह्य जीवन–जगत् के अनुभव बोध के रूप में मिलते हैं। 'मुक्तिबोध' इस प्रक्रिया को आभ्यन्तरीकरण कहते हैं। आभ्यन्तरीकरण का मतलब यह है कि बाह्य का संशोधित–संपादित रूप ही हमारे अनुभव के अंतर्गत बिम्ब, भाव या विचार–रूप ग्रहण करता है।

उन्होंने अपनी आलोचनात्मक कृति 'कामायनीः एक पुनर्विचार' में व्यावहारिक आलोचना प्रस्तुत करने से पहले उसके आधार–रूप में अपने सैद्धांतिक चिंतन के निष्कर्षों को क्रमबद्ध ढँग से प्रस्तुत किया है। इस कृति का पहला ही वाक्य है, "हमारा जीवन त्रिकोणात्मक है।"[3] इस त्रिकोण की व्याख्या वह इस प्रकार करते हैं कि इस की एक भुजा बाह्य जीवन–जगत् तथादूसरी भुजा हमारा अपना अंतर्जीवन है। इन दोनों को हमारी चेतना आधाररेखा की तरह मिलाती है। इस प्रकार इन दोनों की सहायता से ही चेतना अपना अस्तित्व, स्वरूप और आकार स्थापित करती है। दो में से एक के भी न रहने से चेतना निरर्थक हो जाती है। इसलिये चेतना बाह्य और आंतरिक का एक विशेष संघटन है। चेतना के विस्तार का अर्थ है आभ्यन्तरीकृत बाह्य का विस्तार, यानी संवेदना के ज्ञानात्मक आधार और इस तरह स्वयं संवेदना का ही विस्तार।

पहले हम विस्तारपूर्वक दिखा चुके हैं कि द्वन्द्वात्मक विचारधारा चेतना और वस्तुजगत के कृत्रिम द्वैत का विरोध करती है तथा उनकी एक–दूसरे में अंतर्व्याप्ति को स्वीकार करती है। जिस प्रकार व्यक्ति समाज का एक हिस्सा है,उसी प्रकार उसकी चेतना की श्रेणीबद्ध संरचना तथा भावनायें भी सामाजिक तथ्य हैं। यह मानने में समस्या नहीं होनी चाहिये कि चेतना के तत्व बाह्य के ही आभ्यन्तरीकृत रूप हैं।

परंतु आभ्यंतरीकरण की प्रक्रिया सबमें एकसमान नहीं होती। अपनी माँ के चारित्रिक स्खलन का जो परिणाम शेक्सपियर के नाटक 'हैमलेट' में हैमलेट के जीवन में आता है, वही या उस जैसा कोई अन्य परिणाम उस तरह की परिस्थिति से गुज़रे हुए दूसरे लोगों के जीवन में क्यों नहीं आता? सत्ता से जुड़े लोगों के लिये विलासिता और विश्वासघात कोई नयी चीज़ तो नहीं है। इसलिये यद्यपि चेतना का निर्माण बाह्य से होता है, परंतु उसका वैशिष्ट्य इस बात से आता है कि बाह्य का आभ्यंतरीकरण और संशोधन–संपादन करने के बाद उसको किस रूप में आत्मसात् किया गया है? यह विविधता स्वाभाविक भी है, क्योंकि अगर आभ्यंतरीकरण भी एक ही तरह से हो तो फिर उसकी आवश्यकता ही क्या रह जाएगी? वस्तुजगत् का स्थूल यथार्थ तो सबके लिये एक जैसा होता ही है। दरअसल किन्हीं घटनाओं या जीवन–परिस्थितियों से सम्बद्ध कोई अनुभव–रूप जिस मनोव्यवस्था के अंतर्गत जन्म लेता है, उसकी जीवन–जगत् के प्रति कोई–न–कोई प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष, सुसंगत/असंगठित, एकान्वित/बिखरी हुई दृष्टि अवश्य होती है। इस दृष्टि के साँचे से ही घटना में से अनुभव की आकृति–प्रकृति जन्म लेती है। गतिशील यथार्थ का जो स्वरूप समाज में मनुष्यों की पारस्परिक अंतःक्रिया से बनता है, उसमें उन सब मनुष्यों की क्रियाओं के पीछे कार्य करने वाली अपनी–अपनी दृष्टियों का योगदान होता है। इस प्रकार वस्तुनिष्ठ गतिशील यथार्थ के निर्माण में प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव की निजता और उससे प्रेरित क्रिया का योगदान होता है। आत्मबद्ध व्यक्ति को इस यथार्थ का संपूर्णता में ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं को समाज से पृथक् मानकर शेष जीवन–जगत् को वस्तुजगत् समझने लगता है। आत्म और वस्तु का यह द्वैतकारी विभाजन मिथ्या–चेतना की देन है। वह यह नहीं समझ पाता कि वह स्वयं इस समाज का तथा यह समाज उसकी मनोव्यवस्था का एक हिस्सा है। इस प्रकार गतिशील वस्तुनिष्ठ यथार्थ की सम्पूर्णता में उसके अनुभव, चिंतन, दृष्टि तथा क्रियायें भी शामिल हैं। आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने इसी बात की ओर संकेत किया है, "आत्मबोध और जगद्बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी पर हृदय ने कभी उसकी परवाह न की।"[4] वस्तुतः यथार्थ को उसकी समग्रता में जानना ही स्वयं को भी जानना है। परंतु इस ज्ञान का साधन क्या है? संवाद। संवाद के माध्यम से मनुष्य जानता है कि दूसरे लोग जीवन–जगत् की प्रक्रियाओं को किस तरह देखते, समझते और महसूस करते हैं? कलाकृतियाँ इसी व्यापक उद्देश्य हेतु रची जाती हैं; भले ही आत्मबद्धता के कारण कलाकार को ऐसा न लगे। कलाकृतियों में आंतरिक रूप की विविधता (जो

अनुभूति की संरचनाओं को धारण करती है।) सुसंगठित तथा एकान्वित विश्वदृष्टि के सूत्र से संयोजित होकर सामने आती है,जबकि व्यक्तिगत जीवन और क्रियाओं में वह प्रायः प्रच्छन्न तथा बिखरी हुई रहती है। इसीलिये महान् रचनायें संपूर्ण यथार्थ को उसकी गतिशीलता में पकड़ती हैं और इस प्रकार उसे समझने और बदलने में योगदान करती हैं। उनकी इस क्षमता के कारण सिद्धांत चिन्तन के समक्ष चुनौतियाँ पैदा होती हैं,जिनसे उसका विकास होता है

व्यक्ति के चिंतन और कर्म में विचार के जो सूत्र प्रायः प्रच्छन्न और बिखरे हुए रूप में उसकी दृष्टि में निहित रहते हैं, वे अपने स्वरूप तथा अंतर्तत्व–व्यवस्था में किसी–न–किसी समूह या वर्ग की विश्वदृष्टि की संरचना के निकट मेल में होते हैं। इन सूत्रों की प्रच्छन्नता और बिखराव का कारण जीवन की गतिशीलता के साथ मिलने वाले अनुभवों के सम्पर्क में विचारों की बुनावट का बनते–बिगड़ते,अर्थात् बदलते रहना है। सामाजिक चेतना और यथार्थ बोध के विकास के साथ विश्वदृष्टि सुसंगत तथा एकान्वित रूप धारण करने लगती है और एक अवधारणात्मक व्यवस्था के रूप में विकसित होकर किसी सामाजिक वर्ग या समूह की सामूहिक चेतना या संभाव्य–चेतना का प्रतिनिधित्व करने लगती है। इस स्थिति में वह विचारधारा के निकट पहुँच जाती है। विश्वदृष्टि के विकास से विचारधारा का भी विकास होता है। समाज में एक समय में एक साथ कई विश्वदृष्टियाँ एक–दूसरे का विरोध या सहयोग करती हुई क्रियाशील रहती हैं। "जहाँ व्यक्ति समाज का विरोध करता हुआ–सा दिखाई देता है, वहाँ, वस्तुतः समाज के भीतर की ही एक सामाजिक प्रवृति दूसरी सामाजिक प्रवृत्ति से टकराती है। वह समाज का अंतर्विरोध है न कि व्यक्ति के विरूद्ध समाज का या समाज के विरूद्ध व्यक्ति का।"[5] इन सामूहिक संरचनाओं की पारस्परिक क्रिया–प्रतिक्रिया के कारण ही पुरानी सामाजिक–संरचना के भीतर से नयी संरचनायें उभर कर सामने आती हैं। कला या कविता में इन नयी संरचनाओं की पहचान संभाव्य–चेतना के स्तर पर होती है।

इस प्रकार हमने देखा कि बाह्य का आभ्यन्तरीकृत रूप ही संशोधित–सम्पादित होकर चेतना का विधायक तत्व बन जाता है । अतः "मानव चेतना मानव–संबंधों से निर्मित तथा उससे उद्‌गत चेतना है।"[6]

कुछ लोग चेतना के संदर्भ में 'आत्म' पर बड़ा जोर देते हैं,मानो वह कोई अत्यंत गुप्त, रहस्यमय चीज हो! सच्चा कवि या कलाकार आत्मचेतस् होता है, इस

बात का अर्थ यही है कि वह अपने अनुभवों के प्रति ईमानदार होता है। चमकदार भाषा के लिये और अभिव्यक्तिक–संघर्ष से बचने के लिये वह अपने अनुभव–तत्वों की बलि नहीं देता। क्यों नहीं देता? क्योंकि वह समझना चाहता है कि उसके अनुभव का अर्थ क्या है, महत्व क्या है? इस निरन्तर परिवर्तनशील जगत् में उसके अनुभव मर न जायें, इसके लिये उसे सोचना होगा कि उसके अनुभव का अर्थ और महत्व क्या है? वह किस प्रकार अन्यों के अनुभवों से संबंधित है तथा अपने समाज और भाषा के अनुभवों की परंपरा में कहाँ स्थित है? उसे अपने अनुभव की इस बेचैनी से किस तरह संतोषजनक, सार्थक तथा ईमानदार मुक्ति मिल सकती है? आत्मचेतस् होना अपनी (अपनी अनुभूति की) मृत्यु पर विजय पाने की शुरूआत भर है।

मनुष्य का यह अनुभूत जीवन जितना आंतरिक है,उतना ही बाह्य भी है।

मुक्तिबोध कलाकृति को इस अनुभूत जीवन की विधायक कल्पना द्वारा की गयी पुनर्रचना मानते हैं। "यह पुनर्रचना वास्तविक जीवन से सारतः एक और स्वरूपतः भिन्न होती है। वास्तविक जीवन और कलाकृति में गुणात्मक अंतर होता है।"[7] उन्होंने अपनी यह मान्यता क्रोचे के विपरीत रखी है। क्रोचे लिखता है, "जीवनानुभव और कलानुभव में अंतर है तो केवल परिमाण या तीव्रता का– गुण या प्रकृति का नहीं।"[8] मुक्तिबोध मानते हैं कि अगर यह गुणात्मक अंतर न पैदा हो सके तो इसका मतलब यह होगा कि कल्पना ने उसमें कुछ सिरजा ही नहीं। इस गुणात्मक अंतर के कारण ही वास्तविक संसार से रचना का संसार स्वतंत्र स्थिति पा लेता है। अपने आंतरिक रूप की इस स्वतंत्रता के कारण ही रचना वास्तविक संसार से पाठक को नये बोध के साथ जोड़कर समाज को बदलने का भी साधन बनती है। अतः वास्तविक जीवन से गुणात्मक रूप से भिन्न होने के कारण पुनर्रचित जीवन उससे कुछ अधिक (समृद्ध) होता है।

वह वास्तविक जीवन और उसके अतिरिक्त उसके जैसी अन्य संभव वास्तविकताओं और संभावनाओं का भी प्रतिनिधित्व करता है। लुकाच ने कला के इस गुण को 'संभावित चेतना' नाम दिया है और उसे पूँजीवादी समाज में सर्वहारा वर्ग के भविष्य की पहचान के साथ जोड़कर देखा है।"[9] कलाकृति में अपने इस गुण के कारण ही अमूर्तन तथा सामान्यीकरण संभव हो पाता है। वह वास्तविक जीवन से भिन्न और उससे अधिक हो जाती है। गोल्डमान ने लुकाच की 'संभावित चेतना' की अवधारणा

को और व्यापक परिप्रेक्ष्य देते हुए व्याख्यायित किया है तथा उसे न केवल कला या कविता की समाज के संदर्भ में क्रांतिकारी भूमिका और सापेक्ष स्वायत्तता का बल्कि सांस्कृतिक सृजन के संघर्षमूलक, फंतासीपरक तथा यूटोपियायी तत्वों का भी कारण माना है। कलारूप में बढ़ता हुआ अमूर्तन विधायक कल्पना की अधिक व्यापक और सृजनशील भूमिका की ओर संकेत करता है। इस अंतर को क्रमशः नाटक, उपन्यास, यथार्थवादी कविता, फैंटेसी और संगीत के संदर्भ में देखा जा सकता है। उसी के अनुरूप इनकी भाषा क्रमशः अधिक अंतःनिर्देशात्मक होती चली जाती है।

इस प्रकार कविता के आन्तरिक रूप का संसार वास्तविक संसार से गुणात्मक भिन्नता रखता है। इस गुणात्मक अंतर से ही सौंदर्य की उत्पत्ति होती है। यद्यपि सौंदर्यानुभूति जीवन–जगत् में ही प्राप्त होती है फिर भी, वह वास्तविक जीवन के भोगपरक अनुभवों से भिन्न होती है। वास्तविक जीवन में मनुष्य के लिये शेष संसार बाहरी बना रहता है। उसे सम्पूर्ण गतिशील यथार्थ का बोध नहीं रहता, क्योंकि उसका 'मैं' शेष समाज को स्वयं से पृथक् समझते हुए उसके साथ व्यवहार में संलग्न रहता है। इस दशा में चेतना आत्मबद्ध रहती है। कला इस आत्मबद्ध दशा का परिहार कर देती है। इस तरह कलात्मक अनुभूति में अंदर और बाहर के जगत् अपनी–अपनी सीमाओं को तोड़कर कल्पना की मुक्तावस्था में एक–दूसरे से मिलकर एक निराले ही जगत् की रचना कर डालते हैं। इस प्रकार सौन्दर्य जीवन की पुनर्रचना की प्रक्रिया में पैदा होने वाला एक संगठित मानसिक प्रभाव है जो अपनी प्रकृति में ही सृजनात्मक होता है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, "सृजन–प्रक्रिया के बिना सौन्दर्यबोध असम्भव है क्योंकि सौन्दर्य तब उत्पन्न होता है जब सृजनशील कल्पना के सहारे संवेदित अनुभव का ही विस्तार हो जाए। कला की रचना ही नहीं, उसका आस्वादन भी सर्जनात्मक होता है।"[10] यह कलात्मक अनुभूति किसी कविता के कला होने की पहली शर्त है। इसके बाद ही कला के रूप में उसकी श्रेष्ठता का आकलन संभव है। अगर यह कलात्मक प्रभाव केवल नशे की तरह मनुष्य की चेतना पर कुछ काल के लिये छाया रहे और अंतिम प्रभाव के रूप में उसके अंदर चिंतन और कर्म की कोई प्रेरणा न जगा सके तो उस कला–साधना को क्षमता होते हुए भी असफल ही समझना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सौंदर्यबोध सृजनात्मक होता है और उसका संबंध रचना–प्रक्रिया से है। सौन्दर्यगुण की उत्पत्ति को समझने के लिये मुक्तिबोध ने रचना–प्रक्रिया पर बहुत गहराई से विचार किया है। साथ ही उनका यह भी मानना है कि रचना–प्रक्रिया की समझ पर आलोचक को एक सीमा तक ही निर्भर रहना चाहिए।

अपने समय की आत्मबद्ध आलोचना को उन्होंने 'रचना–प्रक्रिया' के इसी यांत्रिकीकरण का शिकार बताया है। उनका मानना था कि आलोचना की कसौटियाँ एक ख़ास तरह की रचना–दृष्टि से प्रेरित होकर बनाई जा रही हैं,जिससे रचनाशीलता के अन्य सभी रूपों (जिसमें उनकी अपनी कवितायें भी थीं) के साथ अन्याय हो रहा है। वह लिखते हैं–

"(क) विभिन्न व्यक्तियों के लिये सृजन–प्रक्रियायें भिन्न–भिन्न हैं, विभिन्न युगों में सृजन–प्रक्रियायें अलग–अलग होती हैं। विभिन्न साहित्य–प्रकारों के लिये सृजन–प्रक्रियायें अलग–अलग होती हैं।

(ख) मैं स्वयं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि, बावजूद समानताओं के, काव्य की रचना–प्रक्रियायें भिन्न–भिन्न हैं। न केवल कवियों के स्वभाव और व्यक्तित्व भिन्न–भिन्न हैं, वरन् उनके मूल संवेदनात्मक उद्देश्य और काव्य–संबंधी उनकी अपनी समस्यायें भी भिन्न हैं। शमशेर की काव्य–संबंधी जो समस्यायें हो सकती है, वे, संभवतः अन्य की नहीं हैं। उसी प्रकार एतत्संबंधी जो मेरी समस्यायें हो सकती है, वे दूसरों की नहीं। अभिव्यक्ति–सबंधी संघर्ष प्रत्येक कवि का अपना अलग–अलग है। ऐसा इसलिये है कि उनके कथ्य भिन्न–भिन्न है, उनके संवेदनात्मक पुंज अलग–अलग हैं।"[11]

दरअसल वास्तविकता तो यह है कि रचना–प्रक्रिया एक ही कवि के लिये भी नितांत स्थिर नहीं होतीं। वह तो "खोज और ग्रहण की प्रक्रिया"[12] है। जब कवि अपनी ही रचना–प्रक्रिया में बँधकर भाव–तत्वों के लिये उससे निर्देशित होने लगता है तो वह रचना–रीति बन जाती है। उस स्थिति में सृजनशीलता समाप्त हो जाती है और कवि 'कण्डीशण्ड साहित्यिक रिफ्लेक्सेस' ही प्रस्तुत करने लगता है।

सुविधा के लिये रचना–प्रक्रिया को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है– बाह्य और आंतरिक। इस विभाजन का कारण यह है कि पूँजीवाद में परिवेश का रचना–प्रक्रिया पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। मार्क्स ने लिखा है, "निश्चय ही लेखक को जीने के लिये जीविका की ज़रूरत होती है लेकिन वह केवल अपनी जीविका के लिये जीना और लिखना नहीं चाहता। लेखक अपनी रचना को कभी भी साधन (जीविका का साधन) नहीं समझता। अगर आवयक हो तो वह अपनी रचनाओं के अस्तित्व के लिये अपने अस्तित्व का बलिदान कर देता है।"[13] हिन्दी में इस बलिदान के दो मर्मान्तक उादहरण 'निराला' और 'मुक्तिबोध' हैं। इन पंक्तियों में भले ही किसी

को शहीदाना अंदाज़ की गंध आ जाये, लेकिन इन में जो दुर्भाग्यपूर्ण पीड़ा भरी है, उसकी असलियत से इंकार करना कठिन है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "वर्ग समाज के लोकतंत्र में लेखकीय स्वतंत्रता पर अनेक प्रकार के दबाव होते हैं। पूँजीवादी समाज–व्यवस्था में विच्छिन्नता की जो प्रक्रिया चलती है, उसका लेखक भी शिकार होता है और आत्मविच्छिन्नता के कारण उसकी चेतना प्रभावित होती है। दूसरी बात यह है कि पूँजीवादी समाजव्यवस्था में लेखक अगर जीने के लिये लिखता है तो वह अपने लेखन का व्यवसाय करता है और व्यवसायिक लेखन के दुष्परिणामों को भोगता है। अगर लेखक लिखने के लिये जीता है तो व्यापक रूप से पूँजीवादी समाजव्यवस्था से उसका सामाजिक अस्तित्व प्रभावित होता है। अतः उसकी चेतना भी प्रभावित होती है। तीसरी बात यह है कि पूँजीवादी समाजव्यवस्था और विचारधारा से लेखक के मन में तरह–तरह के 'सेंसर' पैदा होते हैं और उनसे उसका लेखन प्रभावित होता है। अगर लेखक को बाहरी 'सेंसर' का सामना नहीं करना पड़ता तो भी उसे भीतरी सेंसरों से लड़ना पड़ता है और कभी–कभी तो उसे दोनों से एक साथ संघर्ष करना होता है।"[14] डॉ. पाण्डेय ने ऊपर जिस सत्य की ओर संकेत किया है, वह समूचे सृजनात्मक लेखन पर लागू होता है। परंतु कविता की स्थिति तो इस व्यवस्था में सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण है। मुक्तिबोध के ही शब्दों में, "...अपने जीवन के आर्थिक आधार को दृढ़ और सुपुष्ट करने के लिये व्यक्ति के व्यवसायीकरण का मार्ग भी सामने आता है। मेरे लेखे यह अत्यंत अनुचित मार्ग है। और कम–से–कम मैं उसे कभी स्वीकार नहीं कर पाया, लेकिन वह मार्ग तो सामने आता ही है और व्यवसायीकरण–व्यापारीकरण का दबाव तो तीव्रतर होता जाता है। सच तो यह है कि व्यक्ति की सच्ची आत्मपरीक्षा, उसकी आध्यात्मिक शक्ति की परीक्षा, सबसे प्रधान समय, उस इम्तिहान का सबसे नाज़ुक दौर यही आज का युग है।

जीवन और परिवेश की विषमता की यह स्थिति आभ्यन्तर लोक में भी दुःस्थिति उत्पन्न करती है, यह एक दारूण सत्य है।"[15]

पाठकीय ग्रहण के पक्ष से भी व्यवसायीकरण–व्यापारीकरण के दुष्प्रभाव सामने आते हैं। इसके कारण श्रेष्ठ कलात्मक साहित्य की उपेक्षा होती है और बाज़ारू साहित्य लोकप्रिय हो जाता है। यह सामाजिक चेतना और सौंदर्यचेतना के कुंठित होने का कारण और फल दोनों हैं। इस प्रकार यह प्रत्यक्ष सत्य है कि आज के पूँजीवादी समाज में काव्य–रचना आंतरिक प्रक्रिया के अलावा भी बहुत कुछ है। एक ओर बड़े–बड़े प्रकाशन संस्थान हैं, कला–समितियाँ हैं, दूसरी ओर कवि का अपना वर्ग,

सामाजिक परिस्थिति और तत्संबंधित समाजार्थिक–संघर्ष हैं। इन संघर्षों के बीच ही कभी व्यक्तिगत सुख–सुविधा जुटाने की मानवीय लालसा से प्रेरित, तो कभी कमाई का एक और स्रोत जुटाने की लिप्सा से प्रेरित वह 'लाभ–लोभ' भी है ,जो रचनाकार को उसके संकल्प और अभिव्यक्ति के संघर्ष से विचलित (या विरत) करता है। दिल्ली–दौड़, पुरस्कार–होड़ और नाम कमाने तथा छपने की लालसा भी इसमें योगदान करती है। आत्मप्रकाशन की इच्छा तो पहले भी कवियों में थी लेकिन आज के समाज की तरह रोग के रूप में नहीं थी। तमाम ऐसी कवितायें हर साल बाज़ार में आती हैं ,जिनमें 'सूत न कपास, केवल छपास छपास' ही मिलती है। अगर साल भर में प्रकाशित होने वाली श्रेष्ठ कवितायें चुनी जायें तो संख्या में, कविताओं से कहीं ज्यादा कविताओं पर कुंजियाँ बिकती मिलेंगी। इस समाज में उपस्थिति का अहसास दिलाने के लिये कुछ न कुछ (कचरा ही सही) लिखते रहना ज़रूरी है। कई आलोचकों का यही काम है कि वे कवि से मिलने वाले अर्थ (धन) के अनुपात में ही उसकी कविता से भी अर्थ निकाल देते हैं। इससे होता यह है कि कवि के लिये भी कविता बाजार से पर्याप्त अर्थ (धन) निकाल लेती है। सम्पादकों और प्रकाशकों को तो ऐसे तंत्र में हाथ धरे बैठे रहने पर भी चांदी ही है। इन सब की (असली) नजर काव्यकृति के प्रकट (आर्थिक) मूल्य पर अधिक रहती है, अप्रकट (सामाजिक–सांस्कृतिक) मूल्य पर कम। आज के दौर की सबसे अधिक प्रचलित आलोचना की असली पद्धति यह है कि वह कविता का मूल्याँकन (बाजार में कीमत का आकलन) पहले करती है, व्याख्या बाद में। बड़ी संख्या में होने वाले समर्पण, विमोचन और गोष्ठियाँ रचनाओं के मूल्य को भुनाने के मार्ग को सरल करने वाले इसी बाजारू–तंत्र का हिस्सा होते हैं। कुछ कवि लंबे संघर्ष के बाद टूटकर इस व्यवस्था के सामने घुटने टेकते हैं ,तो अनेक ऐसे भी हैं ,जो खुद को शुरू से ही इस पूँजीवादी मनोवृत्ति में ढाल लेते हैं और मन में छपास की लालसा लिये मौके ताकते रहते हैं। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि अपनी अभिव्यक्ति के प्रति ईमानदार कवियों तथा आलोचना को मात्र चिंतन–कर्म से बढ़कर जीवन–धर्म मानने वाले समीक्षकों का एकदम ही अभाव हो! हाँ, यह अवश्य है कि ऐसे लोगों के लिये आजीवन संघर्ष, टूटन तथा स्वयं में संतुष्टि की खोज भी जीवन का ही एक हिस्सा बन जाती है। लेकिन इन सब चीजों से बड़ा सत्य यह है कि युगधर्म से उपजी शाश्वत कला के सृजन तथा समाज, संस्कृति और साहित्य को गति देने वाली अंतर्दृष्टिपूर्ण आलोचना की संभावनायें अगर कहीं हैं, तो इस अल्पसंख्यक समुदाय में

ही। आज के प्रचारवादी दौर में उस दृढ़ता और आत्मविश्वास की ज़रूरत है, जिसके साथ कभी ग़ालिब ने कहा था–

'ख़बर थी गर्म कि ग़ालिब के उड़ेंगे पुर्ज़े
देखने हम भी गये थे पै तमाशा न हुआ।'

हमारे समाज में अभिव्यक्ति का संघर्ष महज आंतरिक नहीं है, वह उतना ही बाहरी भी है। रचना के रूप का संबंध केवल उसकी संरचनाओं से ही नहीं है, समाज की बहुत स्थूल समस्याओं से भी है। मुक्तिबोध के निबंध 'एक लंबी कविता का अंत' का यह अंत देखिए–

"सोचता हूँ कि अपनी इस प्रदीर्घ कविता को किसी कहानी का रूप दे दूं। संभव है कहानी की कोई मासिक पत्रिका मुझे कम–से–कम पन्द्रह–बीस रूपए दे दे। इससे मैं अपने मित्रों के सामने यह सिद्ध कर सकूँगा कि मैं अयोग्य नहीं हूँ और रूपये कमा सकता हूँ। कुंजी लिखने का काम मैं चार दिन के बाद करूँगा। क्यों ठीक है न,?"[16]

अब अगर रचना–प्रक्रिया की सारी आंतरिकता और अभिव्यक्ति के संघर्ष का यह हश्र हो कि निर्मित कविता से पेट भरने के लिये उसे कहानी के रूप में सजा कर पन्द्रह–बीस रूपये के लिये कवि संपादक का मुँह ताके, तो इस यथार्थ से कौन जीवन–मर्मज्ञ व्यक्ति मुँह चुरा सकता है। लेकिन साहित्य के स्वायत्त–संसार में जीने वाले लोगों को शायद यह बाह्य यथार्थ नागवार गुजरे, क्योंकि उनके तथाकथित सौन्दर्यबोध में इस तरह की चीजें कष्ट पैदा करती हैं। और आजकल तो बहुत बड़ी सुविधा यह भी यह भी है कि लोगों के तरकस में आर्थिक–निर्धारणवाद के ख़तरे का मारक तीर मौजूद है।

साहित्य के समाजशास्त्र में प्रायः बाह्य यथार्थ की, अर्थात् साहित्य पर संस्थागत रूपों की दृष्टि से ही विचार होता आया है। लेकिन यह उसका महत्वपूर्ण पर अधूरा पक्ष है, क्योंकि इसके आधार पर सामान्य कोटि की रचनाओं को ही केन्द्र में रखकर विचार हो सकता है। श्रेष्ठ काव्यकृतियों में, जैसा कि मार्क्स ने कहा है कवि अपनी रचना के अस्तित्व के लिये अपने अस्तित्व का बलिदान कर देता है। इसलिए उनके उस मूल्य को रचना–प्रक्रिया के अंदर झांककर भी समझना जरूरी है, जिसे पाने के लिये वह इतनी बड़ी कीमत चुकाता है। मुक्तिबोध ने एक विशेष काव्य–रूप 'फैंटेसी' के संदर्भ में इस पर विचार किया है। यह इसलिये भी स्वाभाविक है कि वह स्वयं भी

फैण्टेसी के कवि हैं। रचना–प्रक्रिया के संबंध में उन्होंने तीन क्षणों की चर्चा की है। 'क्षण' शब्द से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि कला–रचना क्षण की परिघटना है, अर्थात् क्षण की सौंदर्यभावना का उद्रेक है। परंतु बात इसके ठीक विपरीत है। मुक्तिबोध के अनुसार, "कला सौंदर्यानुभूति के क्षणों में ही जन्म ले– यह कोई ज़रूरी नियम नहीं है। ऐसा होता तो महाकाव्य, खण्डकाव्य, आधुनिक प्रदीर्घ काव्य तथा लम्बी कवितायें लिखी ही नहीं जातीं। यह अविश्वसनीय है कि सौन्दर्यानुभव के क्षण लगातार, क्रमागत ढँग से इतने लम्बे समय तक बने रह सकते हैं। वास्तविकता तो यह है कि सौन्दर्यानुभव के क्षण नितान्त अनिश्चित होते हैं और अधिकतर तो जीवन–जगत् में संवेदनात्मक क्रिया–प्रतिक्रिया करते हुए प्राप्त हो जाते हैं। कवि जब इन्हें भाषा में निर्मित करने बैठता है तो वे लुप्त हो जाते हैं और पूरी कोशिश के बावजूद अपने मूलरूप में पुनरनुभूत नहीं हो पाते। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में सौंदर्यानुभूति के तत्व काफी हद तक बदल जाते हैं और उनकी जगह दूसरे नये तत्व घुलमिल जाते हैं।"[17]

मुक्तिबोध की इन मान्यताओं से यह स्पष्ट समझ में आता है कि काव्य की रचना–प्रक्रिया के निर्धारण में कवि की विश्व–दृष्टि की कितनी बड़ी भूमिका होती है। रचना–प्रक्रिया का उपर्युक्त रूप सभ्यता–समीक्षात्मक चिंतन से प्रेरित कला दृष्टि की विशेषता का संकेत करता है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने विश्वदृष्टि के महत्व को रेखांकित करते हुए लिखा है– "कला में यथार्थ के इंद्रियबोधगम्य, भावात्मक और वैचारिक रूपों की रचना के पीछे रचनाकार की विश्वदृष्टि सक्रिय रहती है। संदर्भ चाहे रचना हो या आलोचना का जीवन–विवेक कला–विवेक को अनुशासित करता है। जीवन–विवेक में हमारी राजनीतिक चेतना और ऐतिहासिक दृष्टि का योगदान होता है।"[18] इस प्रकार अपने आंतरिक रूप में सभ्यता–समीक्षा और सभ्यता की भविष्य चिंता को धारण करने वाली फैंटेसी की रचना–प्रक्रिया को तीन क्षणों के माध्यम से स्पष्ट करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं, "कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव–क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते–दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना, और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेना, मानो वह फैण्टेसी अपनी आंखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अंतिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।"[19]

मुक्तिबोध सृजन–प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक मानते हैं। उनकी यह मान्यता इलियट की इस धारणा के विपरीत है कि कवि–मन में द्रष्टा और भोक्ता का पार्थक्य होता है। सौंदर्यानुभूति का पहला ही क्षण जिसमें व्यक्ति को जीवन का उत्कट तथा तीव्र अनुभव

होता है, नितांत अनुभव का ही क्षण नहीं है। यदि वह निरा अनुभव का ही क्षण हो तो वह सामान्य जीवनानुभूति होगी, कलानुभूति नहीं। 'अनुभव और अनुभव के महत्व की संवेदना, दोनों का एक साथ होना कला के प्रथम क्षण में आवश्यक है। उसमें अनुभव और अनुभव के महत्व की भावना दोनों बीजरूप में रहने से, दर्शकत्व और भोक्तृत्व की स्थितिमुक्तता और स्थितिबद्धता के परस्पर विरोधी बिन्दु रहते हैं।"[20]

कलात्मक अनुभूति के इस प्रथम क्षण में अनुभव की तीव्रता तथा उत्कटता के कारण व्यक्ति–मन का द्रष्टा प्रच्छन्न रहता है। प्रच्छन्न होते हुए भी अनुभव के तत्व, उसकी रूप–रचना तथा दिशा–निर्धारण में इसका योगदान होता है। इसकी उपस्थिति में ही बाह्य–घटना से अंतर्मन का वह संबंध बनता है,जिसे हम विशिष्ट तथा अद्वितीय अनुभव कहते हैं। इसके बावजूद सौन्दर्यानुभूति का पहला क्षण वास्तविक जीवनानुभूति की भाँति ही व्यक्ति–बद्ध होता है,क्योंकि व्यक्तिमन के भीतर द्रष्टा सचेत रूप से सक्रिय नहीं होता। लेकिन मूलतः सामान्य अनुभूति न होने के कारण उसमें इस व्यक्तिबद्धता या निजता की पीड़ा होती है। अनुभव की व्यक्तिबद्धता की इस पीड़ा से मुक्ति पाने के लिये कवि की सर्जक कल्पना सक्रिय होकर अनुभव को रूपान्तरित करने का प्रयास करती है। इस प्रक्रिया में मूल अनुभव स्वयं को धीरे–धीरे परिवर्तित करता हुआ मानस–तंतुओं से एक स्तर पर पृथक् होकर उन्हीं के सम्मुख दृश्यवत् रूप ग्रहण करने लगता है और इसकी तीव्रता कम होती जाती है। द्रष्टा की सक्रिय कल्पना मूल अनुभव–रूप से क्रिया–प्रतिक्रिया करती हुई एक नयी फैण्टेसी खड़ी कर देती है। इस फैण्टेसी में भी मूल–अनुभव के भावात्मक उद्देश्य निहित रहते हैं। ये उद्देश्य फैण्टेसी के प्रवाह की दिशा निर्धारित करते हैं। इसी कारण से मुक्तिबोध ने फैण्टेसी को 'अनुभव की कन्या' कहा है। अनुभव–प्रसूत होने के कारण इस फैण्टेसी का अपना स्वतंत्र विकासमान व्यक्तित्व होता है। द्रष्टा की सक्रियता से प्रचालित कल्पना इस फैण्टेसी में नये–नये रंग भरती और उसे नया–नया आकार देती चलती है। इसके पीछे अनुभव–प्रसूत फैण्टेसी में जीवन के नये–नये अर्थ खोजने और उनमें आनन्द लेने की प्रेरणा रहती है। एक कविता में रचना–प्रक्रिया के इस अनुभव को मुक्तिबोध ने बड़े मार्मिक शब्दों में बाँधा है–

"अर्थ–खोजी प्राण ये उद्दाम हैं,
अर्थ क्या, यह प्रश्न जीवन का अमर।
क्या तृषा मेरी बुझेगी इस तरह
अर्थ क्या, ललकार है मेरी प्रखर।।"

नये–नये अर्थ खोजने और उनमें आनंद लेने से उत्पन्न प्रसन्न–भावना ही सौन्दर्यानुभूति का दूसरा क्षण है। इस दूसरे क्षण में मूल अनुभव–रूप बदलने लगता है। मुक्तिबोध लिखते हैं, "आत्मा अनुभव–प्रसूत फैण्टेसी में दार्शनिक या व्याख्यात्मक ढँग से जीवन का अर्थ नहीं खोजती, वरन्, वह स्वयं, आप–ही–आप, नये–नये संकेत और नये–नये अर्थ का आकलन करने लगती है।... पाठक या श्रोता को, वैसे ही फैण्टेसी के जनक को, फैण्टेसी में, जो नये–नये अर्थ–महत्व या अर्थ प्राप्त होते हैं, वे अपनी–अपनी उत्तेजित जीवन–संवेदनाओं द्वारा ही मिलते हैं। ये संवेदनायें ज्ञानात्मक होती हैं। कला के दूसरे क्षण में अनुभव–प्रसूत फैण्टेसी में जब तक आत्मा को नये–नये महत्व और अर्थ दिखाई नहीं देंगे, तब तक वह आत्मा आतुर–आकुल भावना में बहकर उस फैण्टेसी को शब्दबद्ध करने की ओर प्रवृत्त ही नहीं होगी।"[21]

कला का दूसरा क्षण व्यक्ति–मन के भीतर घटित होने वाला एक प्रवाह है, जिसमें भोक्तृत्व और दर्शकत्व का द्वन्द्व सृजन–प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है और जिसके फलस्वरूप फैण्टेसी एक उच्चतर समन्वय को प्राप्त कर लेती है। इस फैण्टेसी में 'संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनायें' रहती है।

क्रोचे कला को पूर्णतया आन्तरिक (मानसिक) प्रक्रिया मानते हैं और इसलिये उनकी कलानुभूति इस दूसरे क्षण के साथ ही पूर्ण हो जाती है। उसे शब्दों में लाने का काम कला का क्षेत्र नहीं है, कलाकार चाहे तो यह काम करे, चाहे तो न करे। कुछ न कुछ सौन्दर्यानुभूति प्रायः हर व्यक्ति (चेतन प्राणी) को होती ही है, इसीलिये क्रोचे हर व्यक्ति को कलाकार मानते हैं। अंतर यही है कि कोई बड़ा कलाकार है तो कोई छोटा। क्रोचे की ये कलावादी मान्यतायें प्रखर जीवन–आलोचनात्मक चेतना के अभाव की सूचक हैं। यदि कवि के अंतर्मन में उपस्थित द्रष्टा की जीवन–आलोचनात्मक चेतना कमजोर है तो उसमें अर्थ–खोजी प्राणों की आकुलता ही नहीं जन्म लेगी। उस स्थिति में उस फैंटेसी को शब्दबद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होगी। फैण्टेसी को शब्दबद्ध करने का प्रयास अनुभव प्रसूत–फैण्टेसी में जीवन के नये–नये अर्थ खोजने की चेष्टा ही तो है। शब्द से मौन को श्रेष्ठ बताने वाली ऐसी मान्यतायें इस जीवन–आलोचना–शून्य कलावादी चिन्तन की उपज हैं।

शब्द–साधना से कलानुभूति का तीसरा क्षण आरंभ हो जाता है। कवि अपने अंदर की फैंटेसी को उसके मूल रूप, रंग, आकार से मिलते–जुलते रूप में भाषा में निर्मित करना चाहता है (यानी बाहर लाना चाहता हैं)। 'इसके लिये उसे अपने हृदय

की भाव–ध्वनियों की, शब्दों की अर्थध्वनियों से अनवरत तुलना करनी पड़ती है।"[22] शब्दों के अपने ध्वनि–अनुषंग होते हैं जिनमें बिम्ब, चित्र, ध्वनि और अर्थ शामिल हैं। शब्द के ये साहचर्य सामाजिक जीवन के अनुभवों से जुड़े होते हैं। ये साहचर्य शब्द के माध्यम से भाषा में स्थित होते हैं। अतः भाषा एक जीवित परंपरा के रूप में सामाजिक निधि होती है। कवि के मन में शब्दों में निहित स्पन्दनों तथा फैण्टेसी के बीच क्रिया–प्रतिक्रिया चलती रहती है। अभिव्यक्ति का यह संघर्ष भाव और भाषा के बीच का द्वन्द्व है। "भाषा एक परंपरा के रूप में, फैण्टेसी के मूल रंग को विस्तृत कर देती है, किन्तु साथ ही उस फैण्टेसी में संशोधन भी उपस्थित करती जाती है। साथ ही फैण्टेसी अपने मूल रंगों के निर्वाह के लिये, अपने मूल रंगों की अभिव्यक्ति के लिये, भाषा पर दबाव लाती है, उसके शब्दों और मुहावरों में नयी अर्थमत्ता, नयी अर्थक्षमता, नयी अभिव्यक्ति भर देती है।... भाषा फैण्टेसी को काटती–छाँटती है और इस प्रक्रिया के विपरीत फैण्टेसी भाषा को सम्पन्न और समृद्ध भी करती है।

कवि की यह फैण्टेसी भाषा को समृद्ध बना देती है, उसमें नये अर्थ–अनुषंग भर देती है, शब्द को नये चित्र प्रदान करती है। इस प्रकार, कवि भाषा का निर्माण करता है।"[23]

निष्कर्षतः,समीक्षक के सामने कवि की ईमानदारी और महानता का सबसे पहला प्रमाण उसकी भाषा ही हो सकती है। यदि कवि भाषा में नये अर्थ–अनुषंग और नये चित्र नहीं ला पाता तो इसका अर्थ यही है कि या तो उसकी संवेदना उथली है या फिर उसने भाषा की चमक के निर्वाह के लिये प्रचलित अर्थ–अनुषंगों के दबाव में आकर अपने भाव–तत्वों की बलि दे दी है। 'शमशेर' की इन पंक्तियों में कविता का यह रहस्य प्रकट हुआ है–

'बात बोलेगी, हम नहीं,
भेद खोलेगी, बात ही।'

शब्द–साधना की प्रक्रिया में कवि–मन में अनेक नये भावचित्र, स्वरचित्र तथा अनुभव–प्रक्षेपण आते रहते हैं। इनमें से जो फैण्टेसी के मूल–मर्म के अनुकूल होते हैं, उनका चयन–संकलन और संपादन करके कवि फैण्टेसी के भावात्मक उद्देश्य की दिशा में भाषा–प्रवाहित कर देता है। कवि–मन में द्रष्टा की उपस्थिति के कारण ही यह कार्य संभव हो पाता है। वस्तुतः आवेग में बहते हुए भी सचेत कवि–कर्म इसीलिये संभव हो पाता है,क्योंकि रचना–प्रक्रिया के क्षणों में कवि–मन में द्रष्टा और

भोक्ता की द्वन्द्वात्मक एकता रहती है। इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के द्वारा दोनों अधिकाधिक स्वतंत्र होते हुए अंत में कर्ता (कवि) तथा वस्तु (काव्यकृति) के रूप में एक–दूसरे से पृथक् हो जाते हैं।

कवि–मन का यह द्रष्टा निरा आत्मद्रष्टा ही नहीं होता। उसके जन्म और विकास में सामाजिक–समूहों और वर्गों की विश्वदृष्टियों की भूमिका भी रहती है। ऐसा इसलिये है कि मनुष्य को सब कुछ आत्मज्ञान से ही नहीं मिलता, बहुत कुछ समाज–ज्ञान से भी मिलता है। अपने अनुभवों की अर्थवत्ता और उनके महत्त्व के मूल्यांकन में व्यक्ति की विश्वदृष्टि सक्रिय रहती है। कवि की विश्वदृष्टि उसकी चेतना का अंश होते हुए भी नितांत व्यक्तिगत तथ्य नहीं है। "विश्वदृष्टि का स्वरूप मानव–संबंधों की अवस्था–विशेष पर निर्भर करता है।"[24] मानव–चेतना, मानव–सम्बन्धों से उद्‌गत तथा निर्मित चेतना है, इसलिये कला, दर्शन, धर्म और साहित्य अर्थात् संस्कृति के सभी उपादानों में इस की (विश्वदृष्टि की) अभिव्यक्ति होती है। मानव–सम्बन्ध ऐतिहासिक परिवर्तनों के साथ अपेक्षाकृत स्वायत्त रूप से तथा धीरे–धीरे बदलते हैं। चेतना के सम्बन्धों और रूपों की ऐतिहासिक परिवर्तनों के सापेक्ष अपेक्षाकृत अत्यधिक स्थायी और स्वायत्त दुनिया होती है। "विश्वदृष्टि और जीवन मूल्य हमारी अभिरूचि, संस्कार, शिष्टता की मर्यादायें तो बनाते ही हैं, साथ ही वे वस्तु या व्यक्ति के प्रति हमारे दृष्टिकोण का भी निर्माण करते हैं। इस दृष्टिकोण को अलग कर अनुभूति की स्थिति असंभव है।"[25] इस तरह मुक्तिबोध मानते हैं कि अनुभूति की संरचना में ही विश्वदृष्टि निहित रहती है। मुक्तिबोध की यह मान्यता गोल्डमान के निकट पड़ती है।

विश्वदृष्टि का समूह या वर्ग की चेतना में वास्तविक अस्तित्व होता है। वह वर्ग (या समूह) के लोगों की चेतना की संरचनाओं में पायी जाती है। विचारधारा विश्वदृष्टि बने (या बनी रहे), इसके लिये आवश्यक है कि वह स्वयं में जीवन के तत्वों को अधिक से अधिक समाहित करे और यथार्थ के निकटतम पहुँचने का प्रयास करे। वह समाज की वास्तविक जीवन–स्थितियों में स्थित हो तथा सामाजिक वर्गों (या समूहों) की चेतना में उपस्थित रहकर सक्रिय रूप से उनके जीवनानुभवों का और इस प्रकार स्वयं का भी संशोधन–संपादन करती रहे। मुक्तिबोध विचारधारा को एक बौद्धिक उपादान–मात्र मानते हैं– 'यथार्थ के स्वरूप, उसकी गतिविधि, उसकी वर्तमान अवस्था और उसकी दिशा जानने का'।[26] गोल्डमान भी विश्वदृष्टि को उसके सुसंगत, एकान्वित रूप में एक 'अवधारणात्मक प्रारूप' मानते हैं। परंतु उनके अनुसार विश्वदृष्टि का अस्तित्व वर्ग (या समूह) के विचारों की वास्तविक संरचना में भी होता है।

जीवन–जगत् के प्रति सचेत कवि ज्ञानात्मक संवेदनों और संवेदनात्मक ज्ञान के सहारे जीवन का अधिकाधिक यथार्थमूलक अनुभव पाने का प्रयास करता रहता है। इसलिये उसकी चेतना में विश्वदृष्टि का विकास होता रहता है। मुक्तिबोध मानते हैं कि 'जीवन चिंता के बिना साहित्य चिंता निष्फल और व्यर्थ है।'[27] इसलिये कवि को ऐसी विश्वदृष्टि का विकास करना चाहिए जिससे व्यापक जीवन–जगत् की व्यवाख्या हो सके तथा अंतर्जीवन के भीतर के आंदोलन, आर–पार फैली हुई वास्तविकता के संदर्भ से व्याख्यायित, विश्लेषित और मूल्यांकित हों।[28] इससे संवेदना का ज्ञानात्मक आधार विकसित और विस्तृत होता है और कवि की संवेदनाओं को व्यापक दृष्टिकोण मिल जाता है।

किसी भी विचारधारा या सिद्धांत–व्यवस्था के विकास के लिए यह ज़रूरी है कि वह संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदनों के द्वारा स्वयं को निरंतर संशोधित–संपादित करती रहे। यह इसलिये आवश्यक है कि विचारधारा से जीवन–यथार्थ का निकटतम ज्ञान ही हो सकता है, पूर्ण ज्ञान नहीं। यथार्थ के और निकट पहुँचने की आवश्यकता हमेशा बनी रहती है। प्रायः होता यह है कि निरंतर गतिमान जीवन–यथार्थ आगे निकल जाता है और बौद्धिक–उपादान पीछे छूट जाते हैं। इसलिये आलोचक के लिये विचारधारा (या सिद्धांत) के किसी स्थिर–रूप पर भरोसा करके बैठ जाना उचित नहीं है। विचार धारा या सिद्धांत–व्यवस्था का निरंतर विकास होते रहना चाहिए। अतः आलोचक का काम केवल सैद्धांतिक पाण्डित्य से नहीं चल सकता। उसे जीवन–मर्मज्ञ होना ही चाहिए। इसीलिये आलोचना एक कला भी है।

विश्वदृष्टि सही या यथार्थमूलक ही हो, यह भी आवश्यक नहीं है। उसकी यथार्थपरकता का पता संवेदना के ज्ञानात्मक आधार से चलता है। मुक्तिबोध ने 'कामायनी' का विश्लेषण करते हुए दिखाया है कि उसकी विश्वदृष्टि यथार्थमूलक नहीं है। कामायनी को उन्होंने विशाल फैण्टेसी के रूप में विश्लेषित किया है और इस व्यावहारिक आलोचना के लिये उन्होंने बहुत लम्बे समय तक फैण्टेसी के काव्य–रूप पर सैद्धांतिक चिंतन किया।

काव्य के संदर्भ में बाह्य और आंतरिक रूप की संरचनायें सबसे पहले महत्वपूर्ण होती है। इस बात को गोल्डमान भी स्वीकार करते हैं। मुक्तिबोध ने कामायनी के 'काव्यरूप' का विश्लेषण करके दिखाया है कि यह वस्तुतः कथाकाव्य, ऐतिहासिक महाकाव्य या रूपक काव्य (एलेगॅरी) न होकर एक विशाल फैण्टेसी है,

जिसमें आधुनिक जीवन–समस्यायें प्रस्तुत की गयी हैं। प्रश्न उठता है कि कामायनी का काव्य–रूप फैंटेसी ही क्यों है?

'मुक्तिबोध' के अनुसार फैंटेसी एक ऐसा काव्य–रूप है जिसका शिल्प भाववादी होता है। इस भाववादी शिल्प के भीतर जीवन को समझने की दृष्टि या तो भाववादी हो सकती है या फिर यथार्थवादी। कविता एक तो आत्मपरक कला होने के कारण ऐसे ही काफी हद तक अमूर्त होती है, भाववादी शिल्प उसका और अधिक अमूर्तन कर देता है। इस अमूर्तन के अंतर्गत कल्पना अत्यधिक स्वतंत्र होकर भाव–पक्ष का ही ऐसा मूर्त–विधान करने लगती है,जिसमें इस विधान के ही अपने स्वतंत्र नियम चलते हैं। रचना का आंतरिक रूप पूरी तरह वास्तविक संसार से स्वतंत्र होकर एक द्वितीय वास्तविकता बन जाता है। विभाव–पक्ष गौण होकर नेपथ्य में चला जाता है। यह विभाव–पक्ष मात्र प्रतीकों द्वारा फिर किसी अन्य तरीके से सूचित या ध्वनित होता है। इसीलिये कामायनी के प्रतीक (पात्र) अपनी ऐतिहासिक संदर्भबद्धता से बहुत दूर जा पड़ते हैं। इस तरह भले ही कामायनी के आन्तरिक रूप की रचना में ऐतिहासिक–पौराणिक कथा का सहारा लिया गया हो, यह रचना के रूप में महाकाव्यों या ऐतिहासिक कथाकाव्यों के एकदम विपरीत जा पड़ती है। लेकिन कामायनी के ये पात्र मनोवैज्ञानिक तत्वों के प्रतीक भी नहीं हैं। मनोवैज्ञानिक तत्वों के प्रतीक मान लेने के कारण ही 'कामायनी' के रूपक–काव्य होने का भ्रम पैदा होता है। कामायनी के एक सावधानीपूर्ण पाठ के बाद किसी को भी यह पता चल जाएगा कि प्रसादजी के आभ्यंतर लोक में एक ग्रंथि है, इस ग्रंथि में एक जीवन–समस्या है, उस जीवन–समस्या से मुक्ति पाने के लिये वह कामायनी में सभ्यता की समीक्षा करते हैं। प्रसादजी की विश्वदृष्टि अभेदानुभूतिमूलक, सामरस्यवादी, अद्वैतवादी विचारधारा से संशोधित–संपादित हुई है, इसलिये कामायनी में व्यक्त जीवन–समस्या शाश्वत मानव–समस्या और सभ्यता–समीक्षा संपूर्ण मानव–सभ्यता के भविष्य पर चिंतन प्रतीत होती है।

हम किस आधार पर कह सकते हैं कि कामायनी में व्यक्त जीवन समस्या शाश्वत मानव–प्रवृत्तियों की न होकर पूँजीवादी समाज के आधुनिक मानव की है? इसका प्रमाण यह है कि उस जीवन–समस्या को उभारने वाली अनुभूति की संरचनायें अर्थात् जीवन–संवेदनात्मक अनुभव तथा भावधारायें नितांत आधुनिक हैं। फैण्टेसी के कैनवस पर इन अनुभव–संवेदनों, भावधाराओं तथा चिंतनात्मक निष्कर्षों में लेखक का 'स्व' प्रकट हो रहा है। कामायनी के चरित्र, घटनायें यहाँ तक कि संपूर्ण कथानक

लेखक के संवेदनात्मक उद्देश्यों तथा भावदृष्टि द्वारा उपस्थित और परिचालित दिखायी देते हैं। इस वज़ह से उसमें कथानक, चरित्रों और घटनाओं के स्तर पर कई तरह की असंगतियाँ उपस्थित हो गयी हैं। ये असंगतियाँ फैण्टेसी के शिल्प तथा कामायनी के उत्कृष्ट सौन्दर्य–विधान की ओट में प्रथमदृष्ट्या नज़र नहीं आतीं। उदाहरण के लिये, देव–सभ्यता के ध्वंस का जीवित अवशेष मनु जब मानव–सभ्यता के निर्माण का पुनरारंभ करता है, तो वही आदि–मानव की तरह जंगल में सूखी लकड़ियाँ बीन कर हवि की अग्नि से। उस विलासी तथा सम्पन्न देव–सभ्यता का सारा ज्ञान–विज्ञान और विकास मनु की बुद्धि से कहाँ हवा हो जाता है? देव–सभ्यता की विकसित कलाओं का कोई प्रयोग तो दूर, कहीं स्मृति और चर्चा तक नहीं आती। श्रद्धा और मनु की चरित्रगत असंगतियों के कारण तो कथानक में जगह–जगह असंगति, बाधा और अनौचित्य उपस्थित होता है। श्रद्धा में जहाँ अर्थहीन भावुकता और तर्कहीनता है, वहीं मनु में अति–अहंग्रस्तता, विलासिता, टुच्चापन तथा संवेदनहीनता है। श्रद्धा अपने को निरंतर लोकअग्नि में तपने वाली बताती है, लेकिन पूरे काव्य में कहीं भी अपने चरित्र से इसे प्रमाणित नहीं करती। उल्टे जब सारस्वत प्रदेश में मनु को खोजते हुए वह पहुँचती है तो घायल पड़े हुए अहंग्रस्त मनु को गले लगाती है और वहीं पास में मनु की हिंसक वृत्तियों की शिकार घायल जनता की चीत्कारों, सिसकारियों, रक्त–लथपथ लोथों एवं शवों की ओर ध्यान तक नहीं देती। इड़ा के साथ बलात्कार का पाशविक प्रयास करने वाले मनु को तो वह भोला बताती है और इड़ा को हर ग़लती के लिये जिम्मेदार ठहराते हुए डांट पिलाती और क्षमा का उपदेश देती है। ध्यान देने की बात है कि यंत्र–सभ्यता के विकास के लिये भी वह इड़ा की आलोचना करती है। मज़ा यह कि इसी श्रद्धा को मनु बिना किसी गंभीर तथा अनिवार्य कारण के गर्भवती अवस्था में छोड़कर चला गया था और वह पुकारती रह गयी थी– 'रूक जा, सुन ले, ओ निर्मोही'। इतना ही नहीं, मनुष्य के सामान्य स्वभाव के विपरीत श्रद्धा में तर्कहीनता की चरमकोटि दिखाई पड़ती है। वह मनु को नित्य जंगल जाने और स्वयं को बैठ–बैठे सुतली कातने वाली आदिम जीवन–प्रणाली में ही बाँध कर रखना चाहती है। श्रद्धा के इस प्रयास को न मानने वाले मनु के तथा आपसी सहयोग से यंत्र–सभ्यता विकसित करने के मनु और इड़ा के सारे प्रयास अंततः विनाश को प्राप्त होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रद्धा का आदर्शीकरण करने वाले प्रसादजी भी यंत्रों के विकास को ही मनुष्य और उसके सुख का विनाशक मानते हैं।

इड़ा का व्यक्तित्व, जो श्रद्धा से कहीं अधिक तेजस्वी है, उसकी छद्म–उपदेशपरकता के सामने सिर झुका देने के कारण दब गया है। इस प्रकार कामायनी के आंतरिक रूप का संक्षिप्त संरचनात्मक–समाजशास्त्रीय विश्लेषण ही स्पष्ट कर देता है कि इसमें बहुत–सी असंगतियाँ हैं। ये असंगतियाँ इसके फैण्टेसी होने के कारण छिप गयी हैं और रचना के आंतरिक रूप की संरचना में उसके पीछे सक्रिय विश्वदृष्टि के अनुरूप विरूपित होकर व्यवस्थित हो गयी हैं। कामायनी में बाह्य रूप (भाषा की संरचनाओं) के स्तर पर कल्पना का जो वैभव है, वह भी इसके भाववादी शिल्प को प्रमाणित करता है।

मुक्तिबोध की यह आलोचना–कृति इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि इसमें सिद्धांत और व्यवहार के बीच घनिष्ठ संगति है। दोनों एक ही कला–चिंतन से उपजे हैं। डॉ. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, "मुक्तिबोध ने रचना की उत्पत्ति के ऐतिहासिक–सामाजिक परिवेश, रचना की अंतःप्रकृति और रचना के कलात्मक प्रभाव के विश्लेषण को आलोचना की सुव्यवस्थित पद्धति के लिये आवश्यक माना है।"[29] मुक्तिबोध यह भी मानते हैं कि रचना की अंतः प्रकृति अर्थात् आंतरिकरूप–रचना को उसे जन्म देने वाली सामाजिक–ऐतिहासिक वास्तविकता से सम्बद्ध किए बिना रचना की कला का सही विश्लेषण संभव नहीं है। इस प्रकार मुक्तिबोध की पद्धति को तीन बिन्दुओं में संक्षिप्त किया जा सकता है–

(क) कविता के आंतरिक रूप की संरचनाओं का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

(ख) कविता की उत्पत्ति के ऐतिहासिक–सामाजिक परिवेश का अध्ययन (संरचना–विरचना प्रक्रिया के रूपमें)

(ग) आंतरिक रूप की संरचनाओं, बाह्य रूप की संरचनाओं (कविता के गठन) और ऐतिहासिक–सामाजिक वास्तविकता के संबंध की प्रकृति के आधार पर कविता के कलात्मक प्रभाव की व्याख्या।

यद्यपि मुक्तिबोध लुसियें गोल्डमान से काफी पहले ही यह सैद्धांतिक चिंतन और व्यवहारिक आलोचना कर गये थे, लेकिन यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि उनका आलोचना–कर्म गोल्डमान की उत्पत्तिमूलक संरचनावादी पद्धत्ति से बहुत मिलता–जुलता है। ऊपर बताई गयी पद्धति को गोल्डमान के एक लेख 'उत्पत्तिमूलक संरचनावाद और शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण' के साथ पढ़कर देखने से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है।[30] गोल्डमान 'संरचानओं की समधर्मिता की जिस पद्धति का

सैद्धांतिक विकास कर रहे थे, उनसे बहुत पहले ही मुक्तिबोध 'कामायनी' जैसी महाकाव्यात्मक कृति की आलोचना में उसका व्यावहारिक प्रयोग कर रहे थे। उन्होंने कामायनी के आंतरिक रूप की संरचनाओं और उनके पीछे सक्रिय विश्वदृष्टि की संरचनाओं तथा प्रसादजी के अपने वर्ग की विश्वदृष्टि की संरचनाओं में समधर्मिता की खोज की है। विश्वदृष्टि की संरचनायें, चूंकि, वास्तविक जीवन और सामाजिक संबंधों में व्यक्त और क्रियाशील रहती है, इसलिये उन्हें ऐतिहासिक–सामाजिक परिवेश में खोजा जा सकता है। कामायनी का जन्मकाल भारत में पूँजीवाद के मंगलाचरण के साथ जुड़ा हुआ है। कामायनी इतिहास की संरचना–विरचना–प्रक्रिया के अंतर्गत जिस काल में अस्तित्व में आती है, उस समय प्रसाद का अपना वर्ग है ध्वस्त होती हुई सामंती संस्कृति का वह संपन्न वर्ग,जो पूँजीवाद के औद्योगिक युग में प्रवेश कर रहा है। यहाँ प्रसादजी को उनके वर्ग के साथ जोड़ कर देखने के पर्याप्त कारण हैं तथा उसके पीछे विधेयवादी चिंतन नहीं है। प्रसादजी कामायनी में पूँजीवाद और श्रमिक वर्ग की जो आलोचना करते हैं तथा सामाजिक संबंधों और समस्याओं के प्रति जिस दृष्टिकोण को अपनाते हैं, उसके पीछे सक्रिय विश्वदृष्टि उस वर्ग की ऐतिहासिक–सामाजिक वास्तविकता से सम्बद्ध है, जिसके प्रसाद जी सदस्य हैं। अन्यथा कोई कारण न था कि प्रसाद जी को अनिवार्यतः उनको जन्म देने वाले वर्ग के साथ सम्बद्ध करके ही देखा जाता। नयी बनती हुई औद्योगिक समाज–संरचना के अंतर्गत पतनशील सामंती वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है मनु। उसके अनुरूप ही मनु का व्यक्तित्व, आचरण, इच्छायें और आकांक्षायें हैं।

अब हम कामायनी में निहित विश्वदृष्टि के स्वरूप और संरचना पर विचार करें। कामायनी के आंतरिक रूप की संरचनायें अर्थात् पात्रों के पारस्परिक संबन्ध, क्रियाकलाप, संवाद, कथानक, घटनाक्रम, रचना के विकास की दिशा और समाप्ति – सभी को यह विश्वदृष्टि सूक्ष्मरूप से संयोजित करती है। आंतरिक रूप के समग्र प्रभाव में निहित अनुभूति की संरचनाओं से इस विश्वदृष्टि की संरचना का पता चलता है। और भी सूक्ष्म स्तर पर कामायनी की भाषा अर्थात बाह्य–रूप की संरचनाओं में भी इसकी अभिव्यक्ति हुई है। सामाजिक–ऐतिहासिक वास्तविकता के साथ इसके रचना–रूप के सम्बन्ध की प्रकृति के आधार पर कामायनी की कला का विश्लेषण भी संभव है, जिसे मुक्तिबोध ने छोड़ दिया है।

यहाँ यह बात हमेशा ध्यान रखने लायक है कि संरचनाओं की समधर्मिता का अर्थ रचना और सामाजिक वर्ग या समूह की विश्वदृष्टि को समान बताना नहीं है, न

ही कवि को अनिवार्य तौर पर उस वर्ग की जीवन–दृष्टि का प्रतिनिधि मानना है। समधर्मिता से, इसके विपरीत, उस संबंध की विशिष्टता की ओर संकेत है, जिससे रचना की और वर्ग या समूह की विश्वदृष्टियाँ संबंधित हैं। रचनाकार की जीवनदृष्टि स्वयं उस विश्वदृष्टि से किस प्रकार जुड़ी है, यही जानना अभीष्ट है; न कि उसे किसी वर्ग या समूह की विश्वदृष्टि की अभिव्यक्ति का माध्यम मानना।

हमने संक्षेप में देखा कि मुक्तिबोध ने 'कामायनी' के काव्यरूप के बारे में अपना मत निश्चित करने के लिये किन आधारों का उपयोग किया है। अब हम इस प्रक्रिया पर क्रमबद्ध ढँग से विचार करें। यह बहुत स्पष्ट है कि मुक्तिबोध स्वयं सभ्यता की भविष्य–चिंता से ग्रस्त रचनाकार हैं। इसका प्रमाण उनकी कविताओं, अपने आस–पास के जीवन की चिंता से दीप्त कहानियों तथा राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं एवं प्रक्रियाओं पर किये गये जागरूक समीक्षात्मक–चिंतन में स्पष्ट रूप से मिलता है। रचना–प्रक्रिया का उनके द्वारा किया गया संपूर्ण विश्लेषण ऐसी काव्य–रचनाओं के संबंध में उपयोगी है, जिनमें जीवन–समीक्षात्मक दृष्टि से सम्पन्न कवि सभ्यता के भविष्य की चिंता से प्रेरित होकर यथार्थ को उसकी गतिशील समग्रता में पकड़ने के लिये प्रयासरत हो। रचना–प्रक्रिया पर उनका दीर्घकालीन चिंतन आत्मशोध के अतिरिक्त कामायनी के काव्य–रूप को समझने के लिये की गयी लंबी तैयारी की तरह लगता है।

प्रसादजी द्वारा 'कामायनी' को फैण्टेसी के रूप में रचने के पीछे क्या कारण हैं? इसे जानने के लिये तत्कालीन सामाजिक–ऐतिहासिक वास्तविकता को समझना ज़रूरी है। 'मुक्तिबोध' लिखते हैं, "प्रसाद जी की साहित्यिक आत्मचेतना की आँखें तब उन्मीलित हुई थीं, जब देश में भारतीय पूँजीवाद का प्रारंभ हो चुका था। उदार–मतवादी, पाश्चात्य शिक्षा–प्राप्त नेतागण सरकार से शासनाधिकारों की माँग कर रहे थे। उधर हिन्दी साहित्य में देशभक्तिपूर्ण, साम्राज्यवाद विरोधी गीत गाये जाने लगे थे, भारतीय कष्ट और दुख की अभिव्यक्ति जोरों से शुरू हो चुकी थी। अतएव प्रसाद जी को अपने कैशोर्य–काल में एक ओर तो उदार–मतवादी राजनैतिक नेताओं की देशव्यापी कीर्ति, तथा दूसरी ओर, भारतीय तथा यूरोपीय विद्वानों द्वारा भारतीय संस्कृति की गरिमा की पुनःस्थापना, तीसरी ओर रामकृष्ण विवेकानन्द जैसे प्रभावशाली संत–दार्शनिक, चौथी ओर, बंगाल का साहित्यिक–सांस्कृतिक नवोन्मेष तथा ब्रह्मसमाज आदि का सुधारवादी आंदोलन प्राप्त हुआ था। अंग्रेजी साम्राज्यशाही के बावजूद देश

के हृदय में यह नवीन परिस्फुटन प्रसाद जी की आत्मा में नवीन परिस्पन्दनों को जाग्रत करने लगा।"[31] कामायनी के 'आशा' सर्ग में जागरण की प्रेरणा से निर्मित एक झिलमिल कल्पनालोक है, जिसमें मनु की आत्मचेतना का विस्तार होता है। भारतीय जनता के नेताओं ने अंग्रेजी शासन के विरूद्ध जनता के भीतर साहस और आत्मगौरव की प्रेरणा जाग्रत करने के लिये एक ओर तो स्वाधीनता के भविष्य–स्वप्न के लालसामय चित्र उपस्थित किए, दूसरी ओर अतीत के सामाजिक–सांस्कृतिक परिवेश के यथार्थरूप को बदलकर उसकी गौरवपूर्ण झाँकियाँ प्रस्तुत कीं। प्रसाद जी के साहित्य में इस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की झलक सर्वत्र मिलती है। राष्ट्रवाद के इस स्वरूप की ओर प्रसाद जी के आकर्षित होने के कुछ अन्य कारण भी थे। एक तो अतीतोन्मुखी होने के कारण यह सामंती वर्ग की मनोरचना के अनुकूल था, दूसरे कल्पनाप्रवण छायावादी अभिरूचि के लिये उसमें सुन्दर भावचित्रों का निर्माण करके, उनमें रमने की संभावना भी थी।

परंतु प्रसाद जी की प्रवृत्ति, चूंकि, जीवन और समाज की समस्याओं की ओर उन्मुखता की थी, इसलिये वह सभ्यता के भविष्य के प्रति संशयग्रस्त थे। वह उसकी समस्याओं के मूल को पकड़ना चाहते थे। सबसे पहला संशय उनके अपने व्यक्तित्व से, अपनी प्रवृत्तियों से, जुड़ा हुआ था। उनकी यह जीवन–समस्या 'व्यक्तिवादी' प्रवृत्तियों के अनुभव से जन्मी थी। प्रसाद जी यह नहीं समझ सके कि यह प्रवृत्ति, जिससे वह स्वयं को तथा समाज को मुक्त करना चाहते हैं, मूल मानव–प्रवृत्ति न होकर वर्ग–व्यक्तित्व की देन है। यह व्यक्तिवाद ध्वस्त होते हुए सामंती वर्ग का व्यक्तिवाद है जो ब्रिटिश–साम्राज्यवाद के औपनिवेशिक पूँजीवाद और पूरे विश्व में प्रसारशील पूँजीवाद के प्रलय के बीच अपने अस्त की ओर जा रहा था। सामंती देव–सभ्यता की विलासमय जीवनशैली को पूँजीवाद की युगान्तरकारी शक्तियाँ झकझोर कर निष्प्राण कर चुकी थीं। फिर भी उनका ढाँचा चला आ रहा था। इस ढाँचे में रमने वाली मनु की चेतना का 'गया, सभी कुछ गया मधुरतम' का विलाप स्वाभाविक ही था। प्रसाद जी स्वयं उस वर्ग के सदस्य होने के कारण यह अच्छी तरह जानते थे कि प्रभुत्व–भावना और विलासाकुलता उसकी जीवनशैली के मुख्य अंग हैं। इस क्षयशील सामंती वर्ग के कुछ तत्वों ने सामाजिक–राजनैतिक धरातल पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के तत्वों से समझौता किया, तो कुछ ने राष्ट्रवादी आंदोलन में आकर कांग्रेस के भीतर उभर रहे नवीन राष्ट्रीय पूँजीवाद से गठजोड़ किया। कुल मिलाकर परिणाम यही रहा कि सामंतवाद की निष्प्राण ठठरी को उखाड़ फेंकने वाली आमूल

परिवर्तनकारी जनक्रांति संभव नहीं हो सकी। अनेक सामंती शक्तियों ने पूँजीवाद के अनुरूप अपने चरित्र को बदल लिया। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की पक्षधर इन शक्तियों के आश्रय में ही मध्यवर्ग को शैक्षणिक योजनाओं की अर्थपूर्ति से लेकर जीवनयापन के साधनों तक की पूर्ति के लिये जाना पड़ता था। इस मध्यवर्ग की चेतना भी प्राचीन भारतीय संस्कृति की गौरव–गाथा के नाम पर सामंती संस्कारों से संस्कृत थी। भारत के पिछड़े हुए स्वरूप में तमाम आदर्शवादी रंग मिला–मिला कर इन सामंती संस्कारों के नये–नये संस्करण जनता के सामने रखे गये। इसका मतलब यह नहीं है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की जनमुक्ति के संघर्ष में कोई भूमिका नहीं थी। उसकी एक भूमिका निश्चित रूप से थी, लेकिन मिथ्या–चेतना से प्रेरित होने के कारण वह पूँजीवाद के लिये कोई वास्तविक अवरोध पैदा नहीं कर पायी और पूँजीवाद उसका कुशलता से उपयोग करके आगे बढ़ता गया।

प्रसाद जी केवल उस राष्ट्रवादी नवोन्मेष के उद्‌गाता भर नहीं थे। उन्होंने उसकी आर्थिक–सामाजिक भूमि, अर्थात् पूँजीवादी समाज–रचना, पर भी दृष्टिपात किया। उनके सामने केवल भारतीय पूँजीवाद ही नहीं था, बल्कि उसका अंतर्राष्ट्रीय चित्र भी था। एक ओर उन्हें पूँजीवाद की निर्माणात्मक भूमिका का अनुभव था,तो दूसरी ओर प्रथम महायुद्ध और उसके बाद की अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति का भी उन्हें ज्ञान था। जापान से लेकर अमेरिकी तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादी पूँजीवाद के नमूने उनके सामने थे। पश्चिम में साम्राज्यवाद के रूप में ह्रासग्रस्त पूँजीवाद अपनी प्रगतिशील भूमिका भूल चुका था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद उपनिवेशों को लूट–लूट कर अपना घर भर रहा था तथा अपने यहाँ औद्योगीकरण का विकास कर रहा था। इस उपनिवेशवादी शोषण को सुगम बनाने के लिये ही अंग्रेजों ने भारत में भी पूँजीवादी अर्थतंत्र का विकास किया। इसी प्रक्रिया ने भारत के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया। परंतु ऐसा व्यापक पैमाने पर न हो सका। औपनिवेशिक शोषण के लिये आरंभ किए गए इस औद्योगीकरण की गति अत्यंत धीमी थी। दूसरी ओर उत्तर भारत में सामंती शोषण व्यवस्था मजबूत बनी हुई थी। यद्यपि ऐतिहासिक अनिवार्यता के कारण उसका पतन की ओर जाना निश्चित था। 'मुक्तिबोध' ने लिखा है, "ह्रासग्रस्त विश्व–पूँजीवाद के भीतर, भारतीय औपनिवेशिक रूग्ण पूँजीवाद के सामंती प्रभाव–छायाग्रस्त उग्र व्यक्तिवाद का, कामायनी एक आत्मचरित्र कही जा सकती है।"[32]

स्पष्ट है कि भारत में पूँजीवाद का विकास आरंभ से ही अंतर्विरोधों से ग्रस्त था। एक ओर उसने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया, तो दूसरी ओर औपनिवेशिक शोषण को बढ़ावा देते हुए सामंती अवधारणाओं को नये व्यक्तिवादी मूल्यों के रूप में मज़बूती प्रदान की। उसने जहाँ सामंती जड़ता को तोड़कर स्वतंत्रता तथा आत्मप्रसार की संभावनाएं पैदा कीं, वहीं पश्चिमी पूँजीवाद के ह्रासग्रस्त चेहरे ने औद्योगिक–सभ्यता के भविष्य के प्रति शंका का वातावरण भी पैदा किया। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच की वह अवधि ही ऐसी थी। 'कामायनी' में इड़ा का चरित्र पूँजीवाद के विकास और ह्रास दोनों का प्रतिनिधित्व करता है।

इस प्रकार प्रसाद जी के सामने दो बातें बिल्कुल स्पष्ट थीं– एक तो यह कि भारत में आरंभिक पूँजीवाद ने सामंती सभ्यता के विनाश को अनिवार्य बना दिया है और इस तरह आत्म प्रसार की नयी संभावनायें पैदा की हैं; दूसरा यह कि पश्चिम की तरह यहाँ भी पूँजीवाद का भविष्य संकटग्रस्त ही है। पश्चिमी पूँजीवाद के ह्रासकारी लक्षण यहाँ आरंभ से ही विद्यमान थे। व्यक्तिवाद तथा खुली स्पर्धा यहाँ भी मौजूद ही थी। प्रसाद जी को लगा कि सभ्यता के संकट का दूर–दूर तक कहीं कोई अंत नहीं है, क्योंकि व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति मानव–व्यक्तित्व में ही बद्धमूल है तथा शासक वर्ग का सदस्य बनते ही उभर आती है। इसे प्रसाद जी ने आत्मालोचन के द्वारा भी समझने की कोशिश की। परंतु यह आत्मालोचन अनुभवों के सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित होते हुए भी वैज्ञानिक नहीं था, क्योंकि प्रसाद जी को चेतना के निर्माण में वर्गीय–संबंधों की भूमिका का ज्ञान नहीं था। यही कारण है कि वर्गीय शोषण उन्हें पूंजीवादी समाजों में तो दिखाई देता है, लेकिन प्राक्–पूँजीवादी समाजों में नहीं दिखाई देता।

मनु के चरित्र में 'व्यक्तिवाद' की समस्या से संबंधित प्रसाद जी की यह शंका स्पष्ट नज़र आती है। श्रद्धा के संपर्क में यद्यपि उसके व्यक्तित्व का एक बार संस्कार हो चुका है, लेकिन उसकी आत्मप्रसार की भावना 'इड़ा' सर्ग में शासन सँभालने के साथ फिर से व्यक्तिबद्धता में बदल जाती है। 'इड़ा' सर्ग की शापवाणी इसी पूँजीवादी सभ्यता के पतन की भविष्यवाणी है। प्रसाद जी को लगता है कि खुली स्पर्धा में जो पहले से शक्तिशाली हैं, वे और शक्तिशाली होते जायेंगे। इसलिये विषमता की पीड़ा का क्या हल हो सकता है? प्रसाद जी के अंदर गरीब जनता के शोषण की गहरी पीड़ा है। इसीलिये वह सभ्यता की समीक्षा भी करते हैं। परंतु उसकी समाप्ति का उन्हें कोई उपाय नज़र नहीं आता। वह सोचते हैं कि अगर मनु (शासक वर्ग) की

व्यक्तिवादिता तथा निरंकुशता के ख़िलाफ, तथा अपने शोषण से पीड़ित होकर, जनता विद्रोह कर दे तो क्या होगा? परंतु इस समस्या के आगे प्रसादजी को कुछ स्पष्ट नज़र नहीं आता। इसलिये उस कल्पित वर्ग–संघर्ष के बाद उनका 'मनु' 'निर्वेद' सर्ग में पुनः दुविधाग्रस्त होकर सोचता है–

'जीवन में जागरण सत्य है या सुषुप्ति ही सीमा है।'

(पृ॰सं॰ 80 ; निर्वेद सर्ग, कामायनी)

इससे 'मनु' की अपने पुराने खोल में ही बार–बार वापस जाने की आदत सामने आती है। यह मनु का वर्गीय चरित्र ही है, जिससे वह अंत तक नहीं उबर पाता।

इस प्रकार जब विषमता की इस पीड़ा का कोई हल उन्हें नज़र नहीं आता, तो वह उसे अनिवार्य समझते हुए उसी में क्षणिक सुख खोजते हैं–

'विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान
यही सुख–दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान
व्यथा की नीली लहरों बीच
बिखरते सुख–मणिगण द्युतिमान

(पृ॰सं॰ 16; श्रद्धा सर्ग, कामायनी)

इस प्रकार एक गंभीर तथा अत्यंत व्यापक समस्या सतही मानवतावाद के स्तर पर उतर आती है। सभी जानते है कि शोषण और विषमता की इस सामाजिक समस्या का हल 'समरसता का प्रचार' नहीं है। प्रसाद जी भी जानते हैं। वह भी ऐसी विचारधारा की खोज करते हैं,जो इस विषमता के विरूद्ध खड़ी हो। इसी प्रक्रिया में वह अद्वैतवादी विचारधारा की ओर जाते हैं, जिसके अनुसार कण–कण में एक ही चेतन–शक्ति क्रियाशील है। उस प्राचीन शैवाद्वैतवादी विचारधारा से प्रेरित होकर वह आधुनिक पूँजीवादी समाज की समस्याओं पर विचार करते हैं। प्रसाद जी सोचते हैं कि ये सारी समस्यायें कुछ विशेष प्रवृत्तियों के कारण पैदा हुई हैं। 'सब मत्त पिये लालसा

घूँट' तथा 'तुमने योगक्षेम से अधिक संचय वाला। लोभ सिखाकर इस 'विचार–संकट में डाला'। – जैसे वाक्य इस बात को स्पष्ट कर देते हैं। प्रसाद जी को लगता है कि इस शोषण और कष्ट के मूल में लोभ तथा शक्ति की मूलभूत प्रवृत्तियाँ हैं। ये जहाँ शासक–शोषक वर्ग में व्यक्तिवाद, निरंकुशता, शोषण तथा जनता को भय के द्वारा वश में रखने की इच्छाओं को जन्म देती हैं, वहीं शोषित जनता में लोभ और संचय की प्रवृत्ति तथा अपनी संगठन–शक्ति पर गर्व करने की भावनाओं को जन्म देती हैं। इस प्रकार यह संघर्ष अनिवार्य है और शोषण की समस्या का कोई हल नहीं है; क्योंकि यंत्रों का विकास करके मनुष्य ने खुद ही आधुनिक सभ्यता के इस संकट को पैदा किया है। शोषण तभी निर्मूल हो सकता है,जब मनुष्य फिर से आर्ष–वैदिक सभ्यता की सरल जीवन–पद्धति की ओर लौट जाये। कुछ ऐसी ही भाववादी दृष्टि से गाँधी जी ने मशीनों तथा व्यापक औद्योगीकरण का विरोध करके ग्राम–प्रजातंत्र की स्थापना का समर्थन किया था। रवीन्द्रनाथ की पुस्तक 'नेशनलिज़्म' भी इसी भावधारा से अनुप्राणित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को सामने रखती है। पश्चिम में भी कुछ लोगों ने सभ्यता के पतन की इसी भावदृष्टि से घोषणा की थी।

दरअसल समस्या यह नहीं है कि प्रसाद जी पूँजीवादी सभ्यता को शापग्रस्त बताते हैं, बल्कि समस्या यह है कि वह पूँजीवाद के वास्तविक अंतर्विरोधों को सामने नहीं रखते। वह यह भी जानते हैं कि समाज विकास की इस अवस्था से पीछे लौटने वाला नहीं है। इसलिये उनकी प्राड्.मुख विश्वदृष्टि और भी ख़तरनाक हो जाती है। वह शोषित जनता को ही यह उपदेश देने लगती है कि संघर्ष से कोई फायदा नहीं है, क्योंकि वह समूची सभ्यता के हिंसक पतन की ओर ले जाता है। समस्याओं का हल समरसतापूर्ण व्यवहार ही है और इसके लिये शोषक और शोषित दोनों को अपने–अपने ऊपर नियंत्रण रखना चाहिए। स्पष्ट है कि ऐसी समरसता के लिये शोषित शोषकों की दया पर आश्रित है। सामाजिक स्तर पर इन समस्याओं का यही हल संभव है और अगर किसी को इस थोथी समरसता के सहारे इन विषमताओं के बीच जीना कष्टप्रद लगे, तो उसे व्यक्तिगत स्तर पर वैसा ही हल खोजना चाहिए जैसा श्रद्धा मनु को बताती है। इसीलिये 'मुक्तिबोध' ने लिखा है– "श्रद्धावाद यह उद्घाटित करता है कि भाववाद, आदर्शवाद अंततः किस प्रकार प्रस्तुत पूँजीवादी विषमताओं के लिये क्षमाप्रार्थी होकर उन्हें नसीहत देता है और उन्हीं से समझौता कर लेता है। वह वस्तुतः अपने अंतर्विरोधों से ग्रस्त पूँजीवाद तथा व्यक्तिवाद का डिफेंस है और कुछ नहीं। (कामायनीः एक अध्ययन, पृ.सं. 120)"[33]

मुक्तिबोध के अनुसार 'प्रसाद जी की विश्वदृष्टि तथा जीवन–दृष्टि श्रद्धा के चरित्र में प्रकट हुई है।'[34] हम देख चुके हैं कि उनकी यह विश्वदृष्टि अभेदानुभूतिमूलक, समरसतावादी, अद्वैतवादी विचारधारा से संशोधित–संपादित हुई है तथा अपने स्वरूप में पतनशील सामंती–संबंधों को व्यक्त करते हुए विषमताग्रस्त समाज, सभ्यता तथा प्रतिक्रियावादी शोषक राजनीति और समाजनीति को ही स्थिरता प्रदान करती है। मुक्तिबोध ने उनकी इस विश्वदृष्टि को ही कामायनी की संरचना में जगह–जगह दोष उत्पन्न करने का कारण माना है। इसे उन्होंने अपने विश्लेषण में दिखाया भी है। परंतु यहाँ पर एक प्रश्न उठता है। प्रसाद जी ने अपनी विश्वदृष्टि की अभिव्यक्ति के लिये श्रद्धा के चरित्र को ही क्यों चुना है? मुक्तिबोध ने लिखा है, "हमारे गरीब भारतीय जनों में (जैसे कि सभी देश के लोगों में) ऐसी स्त्रियाँ अनगिनत हैं। काश, हमारी गरीब स्त्रियाँ आज मुक्त हो पातीं, शिक्षित होकर प्रभावशाली हो पातीं। अतएव श्रद्धा का जो 'टाइप' है, वह भारतीय जनों में प्रचुर संख्या में वर्तमान है।"[35]

इस प्रकार मुक्तिबोध के अनुसार श्रद्धा गरीब, अशिक्षित परंतु त्यागमय नारियों की प्रतिनिधि चरित्र है। उसके माध्यम से कामायनी में प्रसाद जी की विश्वदृष्टि प्रकट हुई है। मुक्तिबोध ने इसे श्रद्धा के अतार्किक व्यवहार की व्याख्या करते हुए दिखाया भी है। परंतु क्या यह भी आवश्यक नहीं है कि श्रद्धा के इस अतार्किक व्यवहार के ऐतिहासिक कारणों को भी स्पष्ट करते हुए कामायनी की संरचना को उसके माध्यम से स्पष्ट किया जाए? खासतौर पर इसलिये भी यह आवश्यक है ,क्योंकि श्रद्धा नारियों के एक विशेष वर्ग की प्रतिनिधि चरित्र है। 'कामायनी' के एक अवधारणात्मक–व्यवस्था न होकर, कलाकृति होने के नाते उसमें विश्वदृष्टि की अभिव्यक्ति को नारियों के उस वर्ग की सामाजिक और मानसिक स्थितियों के सहारे स्पष्ट करते हुए भाषा की संरचनाओं के स्तर पर भी उद्‌घाटित करना आवश्यक है।

मुक्तिबोध का उद्‌देश्य, चूँकि, दूसरा था, इसलिये उन्होंने श्रद्धा को प्रतिनिधि चरित्र तथा प्रसाद जी की विश्वदृष्टि की अभिव्यक्ति का साधन बताते हुए उसकी दोनों प्रमुख विशेषताओं– गरीबी और अशिक्षा– की ओर संकेत करके कामायनी की कला के विश्लेषण को छोड़ दिया है। इसके बावजूद उन्होंने श्रद्धा के चरित्र की असंगतियों– क्षमा की आदर्शीकृत फिलासफी और कथनी–करनी के द्वैत की आलोचना करते हुए उस दिशा की ओर संकेत कर दिया है, जो ऐसी नारियों के व्यक्तित्व के विकास का

वास्तविक रास्ता है। सभ्यता–समीक्षा के लिये यही अधिक महत्वपूर्ण भी था। फिर भी इस बात को स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि, श्रद्धा का चरित्र इस हद तक अतार्किक क्यों है तथा क्यों उसके चरित्र के माध्यम से अपनी विश्वदृष्टि को प्रकट करना प्रसाद जी को उपयुक्त लगा? इसको समझने के लिये उस वर्ग की नारियों की ऐतिहासिक परिस्थिति, सामूहिक चेतना और इसके सहारे उनकी मानसिक–संरचनाओं का विश्लेषण करना ज़रूरी है।

'कामायनी' में नारी–पुरूष संबंध स्थिर सामंती समाज के नहीं हैं। उनमें सामंती समाज के भीतर से उभर रही नयी औद्योगिक सभ्यता और उसके कारण बदल रही समाज–रचना व्यक्त होती है। इसके कारण सामंती जड़ता को तोड़कर जिस नवीन सौन्दर्य–चेतना का विकास हुआ, उसका कामायनी में सुन्दर अंकन है। परंतु यह नवीन चेतना परंपरा में किए गए नारी के मिथकीकरण का शिकार है। मुक्तिबोध लिखते हैं– "नवीन व्यक्तिवाद जहाँ कहीं जन्मा, उसने सामाजिक कुसंस्कारों तथा अन्याय–उत्पीड़नों के विरूद्ध आवाज उठाई। किंतु उसने सर्वाधिक ज़ोर लगाया सामाजिक–पारिवारिक क्षेत्र में। पुराने सामंती संयुक्त परिवार टूटने लगे। नये व्यक्तिवादी परिवार बनने लगे। निश्चय ही, सामंती सभ्यता में सर्वाधिक दास नारी थी। अतः उसके उद्धार का व्यापक आंदोलन समाज में होता था। किंतु उत्तर प्रदेश के सामाजिक धरातल पर नारी का मुक्ति आंदोलन क्षीण रहा, जबकि अन्य प्रांतों में यह अत्यंत प्रमुख आंदोलनों में से एक हुआ। हमने नारी को देवी बनाया, अप्सरा बनाया, उसके सौंदर्य का, कोमलता का आदर्शीकरण किया; किंतु सामंती सामाजिक बेड़ियों से उसकी मुक्ति का कोई समाजव्यापी विशाल, निर्णयकारी आंदोलन हमारे यहाँ खड़ा न हो सका। नारी को हमने श्रद्धा बनाया, नारी की दुख–भरी कष्टग्रस्त स्थिति तो हमने देखी किंतु उसके उद्धार–निर्णय के बीच सामंती–प्रभावग्रस्त हमारी सारी उच्चमध्यमवर्गीय 'भारतीय संस्कृति' आड़े आ गयी।"[36] महादेवी वर्मा ने इसी स्थिति को व्यक्त करते हुए लिखा है, "समाज ने स्त्री को पुरूष की सहायता पर इतना निर्भर कर दिया कि उसके सारे त्याग, सारा स्नेह और संपूर्ण आत्मसमर्पण बंदी के विवश कर्तव्य के समान हैं।"[37] वस्तुतः सामंती समाज में नारी स्वयं भी अपनी वास्तविक स्थिति के प्रति सचेत नहीं होती।

पहले चर्चा की जा चुकी है कि कामायनी का 'मनु' ध्वस्त, विलासी देवसभ्यता (सामंती वर्ग) का अवशेष है। वह आद्यंत अपनी आत्मग्रस्तता और व्यक्तिवादिता से

ग्रस्त है और उससे उबरने का प्रयास ही नहीं करता। चरम निराशा क्षणों में जिस श्रद्धा का संबल पाकर उसका व्यक्तित्व खड़ा होता है, उसे ही अपने सुख और स्वतंत्रता की खोज के लिये गर्भावस्था में अकेली छोड़कर चल देता है। श्रद्धा हर जगह उसे उसकी उच्छृंखलता के लिये क्षमा कर देती है। स्वयं श्रद्धा का चरित्र सारे आदर्शीकरण के बावजूद एक सामान्य पत्नी का ही है। यह नारी सामंती समाज की वह नारी है, जो स्वयं को चारदीवारी के भीतर की शोभा समझती है। मुक्तिबोध लिखते हैं, "अपने घर की पर्णकुटी की चहारदीवारी में आत्म–तृप्त जीवन की स्थायिता चाहने वाली श्रद्धा हिमालय की ओर ही मनु को ला सकती है।"[38] उसके व्यक्तित्व में सामंती अगतिकता है। मनु भी चाहता है कि श्रद्धा एक सुन्दर, सुकोमल वस्तुमात्र बनी रहे; इसीलिये वह उसके चारों ओर मिथकीयता, रहस्यात्मकता, सूक्ष्मता तथा काल्पनिक सौंदर्य का चारुमंडन करता है।

अपनी सारी नवीन दृष्टि के बावजूद कामायनी में रूप–सम्मोह में जकड़ी सौन्दर्य वर्णन की भाषा, वासना की निबिड़–अनुभूतियों को व्यक्त करने वाली भाषा तथा श्रद्धा के अतिरेकवादी आदर्शीकरण की भाषा में इसका प्रमाण है। ध्यान देने की बात है कि मनु जहाँ अपने लिये कर्म–क्षेत्र का विस्तार चाहता है, वहाँ श्रद्धा को भी उस कर्म–क्षेत्र में लाने की चिंता नहीं करता। वह श्रद्धा को अपने ऊपर निर्भर बनाये रखना चाहता है और उसे हमेशा एक वायवीय, सुन्दर, कोमल तथा आदर्श चरित्र के रूप में देखता है। मानव–चेतना मानव–संबंधों से उद्‌गत तथा निर्मित होती है; इसीलिये श्रद्धा बदलते हुए समाज की अनिवार्यता से डरते हुए भी उसके प्रति सचेत नहीं हो पाती। उसकी चेतना की सामंती–संबंधों से निर्मित हुई है और उसी के अनुरूप वह घर के भीतर आदर्शीकृत होकर रहने में अपना महत्त्व और मूल्य समझती है। इसके विपरीत मनु कर्म के विस्तृत क्षेत्र की ओर अकेले जाना चाहता है; न कि श्रद्धा को भी साथ लेकर। वह कहता है–

'चिर–मुक्त पुरूष वह कब इतने अवरूद्ध श्वास लेगा निरीह।
गतिहीन पंगु–सा पड़ा–पड़ा ढहकर जैसे बन रहा डीह।।'

(पृ॰सं॰ 46; ईर्ष्या सर्ग, कामायनी)

इसके विपरीत वह चाहता है कि श्रद्धा जो घर में रहकर थोड़ा–बहुत तकली कात लेती है, बीज बीन लेती है, वह भी बन्द कर दे। वह केवल उसके लिये जीने वाली, घर में बैठे–बैठे, निष्क्रिय उसका इंतजार करने वाली एक सुन्दर गुड़िया बन कर रह जाए। इसीलिये बड़े अधिकार–भाव से प्रेम जताते हुए कहता है–

'श्रद्धे तुमको कुछ कमी नहीं पर मैं तो देख रहा अभाव,
× × × × × ×
यह क्यों, क्या मिलते नहीं तुम्हें शावक के सुन्दर मृदुल चर्म?'
(पृ० सं० 4-6; ईर्ष्या सर्ग, कामायनी)

यद्यपि मनु ऐसा कहता प्रेम के कारण ही है, परंतु उसके प्रेम में श्रद्धा के व्यक्तित्व को कर्मोन्मुख करने की चिंता नहीं है।

ऊपर मनु जिस चिर–मुक्ति का दावा करता है, वह चिर (?) मुक्ति न होकर सामंती–समाज में पुरुष की स्वतंत्रता है। वह नारी की तुलना में पुरुष को बाह्य जीवन–जगत् में मिला हुआ अबाध एकाधिकार है, क्योंकि नारी की सीमायें घर की चौखट तक सीमित हैं। इस स्वतंत्रता की चेतना के कारण ही मनु कर्म–क्षेत्र के महत्त्व को पहचानता है। वह स्वयं को गतिहीनता में डालकर पंगु और शक्तिरहित नहीं बनाना चाहता। श्रद्धा अनजाने ही स्वयं को पंगु बना रही है। ऐसा क्यों न हो, जब सामंती वर्ग की नारियों को बाहर निकलने के अवसर ही न मिलते रहे हों। सामंती समाजों में सम्पन्न वर्ग की स्त्रियाँ देहरी के अंदर की शोभा समझी जाती हैं। श्रद्धा की चेतना इन्हीं परिस्थितियों में निर्मित हुई है। क्या यह ध्यान देने योग्य नहीं है कि श्रद्धा क्यों बार–बार मनु की भयानक गलतियों पर उसे क्षमा करके न केवल त्याग का प्रदर्शन करती है, बल्कि इड़ा के खिलाफ मनु का पक्ष लेती है? ऐसा नहीं है कि श्रद्धा का हृदय बड़ा विशाल है। ऐसा होता तो दो क्षण के लिये ही सही, वह उन शवों तथा घायल, कराहते हुए लोगों के पास अवश्य जाती, जिन पर मनु की हिंसक प्रकृति का कहर बरपा था। श्रद्धा प्रवृत्तितः उदार नहीं है; वह केवल मनु के लिये उदार है। वह मनु को प्रभावित करने और बांधे रखने के लिये ही उसके सम्मुख अपने लोक–अग्नि में तपने का आदर्श बघारती है। वह मनु को उसकी शर्तों पर प्रसन्न रखते हुए यथासंभव बांधे रखने की कोशिश करती है, क्योंकि वह अपने सुरक्षा कवच से बाहर नहीं आना चाहती। उसे डर है कि कहीं मनु उसे छोड़कर चला न जाए, क्योंकि उसे लगता है, सामंती–परंपरा में निर्मित उसका अगतिक व्यक्तित्व नयी औद्योगिक समाज–रचना में मनु के व्यक्तित्व के साथ तालमेल नहीं बैठा पाएगा। इसीलिये वह अगतिकता का आदर्शीकरण करते हुए उसे मनु के सम्मुख मानवीय गुणों के रूप में पेश करती है। श्रद्धा का त्याग मजबूरी का त्याग है, क्योंकि वह सामाजिक–आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नहीं है, उसके व्यक्तित्व का विकास नहीं हुआ है। उसे मनु से अलग अपने अकेले अस्तित्व की कल्पना से ही भय लगता है। इसलिये वह जगह–जगह उन मानवीय–मूल्यों का सदुपदेश देती फिरती है, जो स्वयं उसके

व्यक्तित्व में नहीं है। ऐसा वह केवल मनु में अपने प्रति आकर्षण बनाए रखने के लिये ही करती है। श्रद्धा का यह भय इसलिये और भी विकट है कि वह पली–बढ़ी तो सामंती परिवेश में है, पर रह मनु के साथ एकल परिवार में रही है। यह एकल परिवार–रचना औद्योगिक–व्यवस्था की देन है।

यहाँ श्रद्धा को कष्ट और घबराहट के क्षणों में सांत्वना देने के लिये संयुक्त परिवार की तरह अन्य स्त्रियाँ भी नहीं हैं। जंगल के वातावरण द्वारा श्रद्धा का यह मानसिक अकेलापन व्यंजित होता है। श्रद्धा का व्यक्तित्व, चूँकि, अविकसित है; इसलिये वह जीवन–निर्वाह के लिये मनु के ऊपर निर्भर है।

ऐसा नहीं है कि श्रद्धा श्रम से घबराती हो। वह अकेले पूरी झोपड़ी बनाती है, घर में बैठकर दिन–भर तकली कातती है। जब शाम को मनु जंगल से वापस आता है तो श्रद्धा का मुख श्रम से म्लान ही पाता है। लेकिन श्रद्धा, चूँकि, सामंती परिवेश में पली–बढ़ी नारी है, इसलिये उसके व्यक्तित्व में वे गुण, शिक्षा, साहस तथा नवीन कुशलता ही नहीं है कि वह स्वयं को भी औद्योगिक समाज में आत्मनिर्भर बना सके। मनु की ओर से इसका कोई आसरा नहीं है। सामंती चेतना का पुरुष स्वयं को कितना भी आधुनिक बना ले, परंतु अपनी पत्नी को अपने व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास करने की छूट कभी नहीं दे सकता। वह तो उसे नाजुक कली बनाकर रखना चाहता है। ऐसी स्थिति में, श्रद्धा मजबूरी में यही प्रयास करती है कि मनु भी उसके साथ बंधा रहे तथा दोनों औद्योगिक समाज से दूर (प्रसाद जी 'यंत्र–सभ्यता' कहते हैं) तकली कात कर और जंगल में घूमकर जीवन–निर्वाह करते रहें।

श्रद्धा अपने अंदर विकट भय से ग्रस्त चरित्र है। उसके अवचेतन में यह भय–ग्रंथि है। इससे उबरने के लिये ही वह दिनभर तकली कातती है। इससे उसे आत्मनिर्भर होने का अहसास मिलता है। यह श्रद्धा की आंतरिक आवश्यकता है; भले ही मनु के सामने अपनी कर्मठता का बखान करने के लिये वह इसे समय काटने का एक तरीका बताती हो।

कमायनी निस्संदेह विशाल फैण्टेसी है, लेकिन उसका विधान इकहरा नहीं है। इस फैण्टेसी के भीतर भी एक स्वप्न–विधान है,जो श्रद्धा के मन में चलता रहता है। 'ईर्ष्या' सर्ग में जहाँ मनु गर्भवती श्रद्धा को छोड़कर चला जाता है, वह घटना और उससे आगे कामायनी की समाप्ति तक सब कुछ श्रद्धा के स्वप्न में ही घटित होता है। ऐसा मानने के चार प्रमुख कारण हैं।

पहला तो यह कि ऐसा मान लेने पर श्रद्धा के उस संपूर्ण अतार्किक व्यवहार की तर्कसंगत, ऐतिहासिक व्याख्या हो जाती है, जिसके कारण मुक्तिबोध श्रद्धा के चारित्रिक अंतर्विरोध और उसकी कथनी–करनी के द्वैत पर अंत तक झुंझलाते रहे।

दूसरा कारण यह है कि उपरोक्त घटना और उससे आगे सब कुछ श्रद्धा की भयग्रन्थि से प्रेरित इच्छाओं के अनुकूल है। जिन–जिन चीजों से श्रद्धा को भय था, पहले तो क्रमबद्ध ढँग से वही सब घटित होता है। मनु उसे त्याग कर चला जाता है, औद्योगिक (यंत्र) सभ्यता का विकास करता है, उस सभ्यता की आधुनिक नारी इड़ा का सहयोग पाता है। मनु उससे दैहिक संबंध बनाने का प्रयास करता है। श्रद्धा का अधिकतम भय यही हो सकता था। श्रद्धा का मन स्वप्न में इस घटना को सह नहीं पाता, यहाँ पर स्वप्न टूट जाता है और उसके अंदर एक नया स्वप्न गतिमान हो जाता है। यह स्वप्न श्रद्धा की घबराहट को दूर करने का काम करता है, उसे उसकी इच्छाओं की पूर्ति की ओर ले जाता है, ताकि स्वप्न टूटे नहीं और श्रद्धा जाग्रत अवस्था में न आने पाए। इस तरह वह स्वप्न में अपने व्यक्तिगत जीवन यथार्थ का सामना करती रहे। इस नये स्वप्न के साथ,स्वप्न में श्रद्धा की इच्छाओं के माध्यम से प्रसाद जी की विश्वदृष्टि से प्रेरित समाज–कल्पना का समावेश होता है। मनु का इड़ा के साथ संभोग का प्रयास एकपक्षीय सिद्ध होकर विफल होता है। यंत्र–सभ्यता विफल होती है। वर्ग–संघर्ष हो जाता है। परिणाम यह कि मनु घायल पड़ा हुआ है। श्रद्धा अपने पुत्र के साथ मनु को खोजती हुई जाती है। मनु देखता है कि श्रद्धा उसके लिये अँधेरी रातों में भटकती हुई, पुकारती हुई, व्याकुल सब तरफ घूम रही है। उसे अपने श्रद्धा–त्याग पर पश्चाताप होता है। यंत्र–सभ्यता विफल हो चुकी है। इससे अच्छा मौका श्रद्धा के लिये स्वयं को सही सिद्ध करने का कहाँ मिल सकता था! वह मनु को बताती है कि वास्तविक सुख तो अपने अंदर निहित है। बाहर दुनिया में व्यर्थ ही अधिकारों का संघर्ष चल रहा है। आखिर लड़ तो सब अपने–अपने लिये ही रहे हैं, चाहे वे श्रमिक हों चाहे शोषक। सबके अंदर भोग की लिप्सा है। कोई अपना पेट भरने के लिये लड़ रहा है, तो कोई दूसरे शारीरिक, मानसिक भोगों के लिये। अंतर कुछ भी नहीं है। दोनों एक जैसे ही हैं। दोनों को अपने–अपने ऊपर संयम रखना चाहिए। क्रिया को आत्मकेंद्रित करके इच्छा और ज्ञान के साथ मिला देने से ही आनन्द मिल सकता है। बाह्य जगत् में विकास और विस्तार की इच्छा ही मूर्खता है, क्योंकि वहाँ तो अनिवार्य विरोध है। इसलिये 'आत्मन्येव आत्मनःतुष्टः' की जीवन–दृष्टि अपना लेने पर ही जीवन में सच्चा सुख मिल सकता है। इस सट्टी–पट्टी को पढ़ाकर

श्रद्धा मनु को हिमालय के एकान्त में ले जाने में सफल रहती है। हिमालय का एकान्त यानी आर्य–वैदिक सभ्यता की आध्यात्मिक भावधाराओं से अनुप्राणित परंपरा का आदि स्थल, पाठक के मन में उन भाव–अनुषंगों को जगाने वाला स्थल, जहाँ औद्योगिक सभ्यता कोई खतरा पैदा न कर सके। आज प्रसाद जी होते तो उन्हें पता चलता कि हिमालय क्षेत्र में रहने वाली जनजातियाँ तक पूँजीवाद के सर्वग्रासी प्रभाव से बाहर नहीं हैं। ध्यान रहे कि श्रद्धा अपने पुत्र मानव को इड़ा की देखरेख में कर्मक्षेत्र में ही छोड़ जाती है, क्योंकि अंदर कहीं उसे भी लगता है कि मनु के साथ उसका यह हिमालय–पलायन उस जैसी–उसकी पीढ़ी की नारियों की समस्या का ही हल हो सकता है। इस तरह 'कामायनी' का अंत श्रद्धा की स्वप्नावस्था में ही होता है।

इस मान्यता का तीसरा आधार यह है कि कामायनी का रचनाकाल भारत में पूँजीवाद के आगमन के पहले चरण का समय था। उस समय यंत्र–सभ्यता के पूर्ण विकास, प्रखर वर्ग–संघर्ष तथा सभ्यता के पतन की इस कल्पना का अंतर्राष्ट्रीय पूँजीवाद के स्तर पर भी कोई स्पष्ट उदाहरण सामने नहीं था। कामायनी में वर्णित द्वन्द्वात्मकता का, वास्तव में, मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से कोई लेना–देना नहीं है। यह सब प्रसाद की रहस्यवादी, पुनरूत्थानवादी, समरसतावादी, अभेदानुभूति मूलक विश्वदृष्टि से प्रेरित स्वाभाविक कल्पना थी। रचना के सुन्दर संगठन के लिये इस अनुभवशून्य कल्पना को किसी पात्र के स्वप्न–विधान के अंतर्गत स्थान देने से अच्छा विकल्प और क्या हो सकता था? प्रसाद जी ने अपने समर्थ कलाकार होने का परिचय देते हुए यही किया है। मुक्तिबोध ने प्रसाद जी की इस विश्वदृष्टि की संरचनाओं और उसके विचारधारात्मक आधार को बहुत अच्छी तरह पहचाना है और कामायनी के उत्कृष्ट सौन्दर्य विधान में दोष उत्पन्न करने का कारण उसे ही ठहराया है। यह उचित भी है, क्योंकि कामायनी के चरित्र, उनके पारस्परिक संबंध तथा संपूर्ण रचना–विधान आखिरकार इस विश्वदृष्टि के सूत्र से ही तो संयोजित हैं। यह विश्वदृष्टि अद्वैतवादी सामरस्य, पुनरूत्थानवादी दृष्टि और व्यक्तिनिष्ठ स्वतंत्रता के मिश्रण से उपजी है। पूँजीवाद के अंतर्विरोधों के प्रति समरसतावादी दृष्टिकोण, सर्वहारा के संगठित संघर्ष से घृणा और नारी के प्रति सामंती दृष्टि से प्रेरित यह विश्वदृष्टि अपने संपूर्ण स्वरूप में उस पतनशील सामन्ती वर्ग के संबंधों को व्यक्त करती है, जो धीरे–धीरे औद्योगिक समाज का हिस्सा बन रहा था।

इस मान्यता का चौथा आधार कामायनी का सौन्दर्य विधान है। कामायनी के संबंध में अक्सर यह बात कही जाती रही है कि उसके आरंभिक सर्गों का सौंदर्यपरक

गठन बाद के सर्गों से बहुत अधिक श्रेष्ठ है। मुक्तिबोध ने भी इस बात को लक्ष्य किया है। इसकी वजह यह है कि आरंभिक सर्गों में कवि की कल्पना जहाँ अपने समय के ठोस जीवानानुभवों का आधार लेकर आगे बढ़ती है, वहीं बाद में भ्रामक दृष्टि से प्रेरित अनुभवशून्य स्वप्न के क्षेत्र में विचरण करने लगती है। सामंती जड़ता की 'कालरात्रि' को तोड़कर सुनहले तीर बरसाती हुई आने वाली नवीन औद्योगिक व्यवस्था ने पुरुष और नारी को वे तमाम बंधन तोड़ कर आत्मप्रसार का अवसर प्रदान किया,जो जड़ सामाजिकता और भेदभावमूलक निरर्थक जाति–व्यवस्था में युगों से उसका दम घोंट रहे थे। उन्हें लगा कि वे अब स्वतंत्र होकर जीवन–जगत्, प्रकृति और प्रेम का आनन्द ले सकेंगे। यद्यपि मनु अपनी विलासमय सम्पन्नता के ध्वंस से विषादग्रस्त है, परंतु श्रद्धा के संपर्क में आकर उसमें भी नवीन जीवन और सौन्दर्य–दृष्टि का आविर्भाव होता है। उसका व्यक्तित्व भी आत्मप्रसार की आकांक्षा से प्रेरित होकर अपने स्वतंत्र विकास के लिये बाहर की ओर भागता है। नयी उभर रही पूँजीवादी समाज–रचना अभी उनके लिये झिलमिल कल्पनालोक की तरह ही है,परंतु वह उन्हें अज्ञात आकर्षण से खींचती है। उन्हें प्रकृति रहस्यात्मक ढँग से सुन्दर नजर आती है। इस प्रकार कुछ–कुछ अस्पष्ट आरंभिक पूँजीवादी समाज–रचना में मनुष्य को परंपरागत शोषण, अगतिकता तथा जड़ सामाजिकता से मुक्ति का जो झिलमिल कल्पनालोक दिखा, उसने उसे जीवन–जगत् संबंधी नवीन दृष्टि का आलोक दिया। इस नयी दृष्टि से जब उसने प्रकृति, नारी और प्रेम की ओर देखा तो उसे नयी ही आभा से मंडित दिखाई पड़े।

सामंती समाज के मिलन पर तरह–तरह के बंधन होते थे। औरतें घर के अंदर एक साथ सोती थीं और पुरुष घर के बाहर या बरामदे में चारपाई डालकर साते थे। संयुक्त परिवार में नित्य परिचित होते हुए भी दोनों एक दूसरे से अपरिचित ही बने रहते थे। औद्योगिकीकरण ने जिस एकल परिवार को जन्म दिया,उसमें नितान्त अपरिचित नारी और पुरुष बंधनों से स्वतंत्र होकर एक–दूसरे का नव–नव परिचय पाने लगे। कामायनी के आरंभिक सर्गों की भाषा इन्हीं नवीन प्रणय–संबंधों की ओर संकेत करती है।

भाषा की सृजनशीलता के आधार पर कामायनी को सामान्यतः तीन स्तरों में बाँटा जा सकता है। 'ईर्ष्या' सर्ग तक भाषा बहुत अधिक सशक्त है, क्योंकि वह ठोस जीवनानुभवों पर आधारित कल्पना से निर्मित है। लेकिन यहाँ भी प्रसाद जी की विश्वदृष्टि बीच–बीच में अवरोध अवश्य उत्पन्न करती है। कई पंक्तियों में

सृजनात्मकता उच्च कोटि की बनी रहने के बाद अचानक ही साधारण स्तर पर उतर आती है। परंतु 'ईर्ष्या' सर्ग से आगे भाषा सृजनात्मकता के उस असाधारण स्तर को नहीं पाती जिसमें वह इससे पहले के सर्गों में तथा खास तौर से 'श्रद्धा' सर्ग में रहती है। इसका कारण यह है कि घटनायें श्रद्धा के स्वप्न में चल रही हैं। ये घटनायें अनुभव के ठोस आधार से रहित हैं। इसके बावजूद अगर भाषा में कुछ सृजनशीलता है तो इसलिये कि श्रद्धा के मन में गतिमान स्वप्न निरी इच्छापूर्ति न होकर श्रद्धा के व्यक्तिगत जीवन–यथार्थ तथा आकांक्षा का जटिल द्वन्द्व है। लेकिन इससे आगे पहले स्वप्न के भंग हो जाने के बाद जब उसके अंदर दूसरा स्वप्न गतिमान हो जाता है तो भाषा एकदम से सामान्य स्तर के भी नीचे चली जाती है। यह दूसरा स्वप्न श्रद्धा की इच्छापूर्ति होने के कारण नितान्त खोखला और इकहरा है; उसी के अनुरूप 'निर्वेद' 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनंद' जैसे सर्गों की भाषा है। आरंभिक सर्गों की भाषा जहाँ नये चित्र, नये बिम्ब और नये अर्थ देती है, बाद के सर्गों में पहले सामान्य, फिर शास्त्रीय शब्दावली में जकड़ती चली जाती है। इसके बावजूद कहीं–कहीं भाषा में सृजनात्मक उभार दिख जाता है जैसे–

"इस रजनी में यहाँ भटकती जाओगी तुम बोलो तो,
बैठो आज अधिक चंचल हूं व्यथा–गाँठ निज खोलो तो।
जीवन की लंबी यात्रा में खोए भी हैं मिल जाते,
जीवन है तो कभी मिलन है कट जाती दुख की रातें।"

(पृ० सं० 82-83; निर्वेद सर्ग, कामायनी)

तो इसका कारण प्रसाद जी की गहरी मानवीय सहानुभूति है जिसके साथ वह मनुष्य की 'व्यथा गाँठ' को नज़दीक बैठकर महसूस करते हैं। ऐसी पँक्तियों में पाठक को जीवन की लंबी, अँधेरी राहों में खो गए अपने किसी प्रिय की याद आ जाये और इस गहरे संवेदनात्मक आश्वासन की सुख–दुखमयी छायानुभूति में उसकी आँखें नम हो जायें तो क्या आश्चर्य! प्रसाद जी तो कलावादी कवि हैं भी नहीं। वह मानव–संवेदनाओं को उनके यथार्थ के निकट आंच से महसूस करने और उन पर चिंतन करने वाले महाकवि हैं। परंतु 'यथार्थबोध सच्चा, जीवन–मूल्य भ्रामक और विश्वदृष्टि गलत, यही कामायनी की रचना–दृष्टि की ट्रैजेडी है। क्या टी.एस. इलियट की रचना – 'वेस्ट लेण्ड' लगभग ऐसी ही ट्रैजेडी का शिकार नहीं हुई है? क्या इससे यह साबित नहीं होता कि आधुनिक युग में गलत विचारधारा का शिकार बड़ा–से–बड़ा रचनाकार भी केवल यथार्थबोध और रचनाकौशल के आधार पर सामाजिक विकास

और परिवर्तन की दिशा की अभिव्यक्ति करने वाली महत्त्वपूर्ण कलाकृति का निर्माण नहीं कर सकता।"[39]

इसके बावजूद कामायनी बहुत मूल्यवान ग्रंथ है। उसमें सभ्यता के संकट का बोध है और उसके भविष्य की चिंता भी। यद्यपि अपनी छायावादी दृष्टि की सीमाओं के कारण प्रसाद जी समाज के मूल अंतर्विरोधों को न पहचान सके तथा जनता की विकासोन्मुख शक्तियों से अनभिज्ञ रह जाने के कारण उनकी सभ्यता–समीक्षा एकांगी ही रह गयी, परंतु उन्होंने सभ्यता की समस्याओं को बहुत तीव्रता से महसूस किया मुक्तिबोध के अनुसार, "प्रसाद जी की महत्ता इसी में है कि उन्होंने व्यक्तिवाद, राष्ट्रवाद, पूँजीवाद के उपस्थित स्वरूप को ध्यान में रखकर व्यक्तिवाद को शासन–सत्ता से सम्बद्ध कर दिया।"[40] यंत्र–सभ्यता के रूप में ह्रासग्रस्त पूँजीवाद की आलोचना करते हुए उन्होंने व्यक्तिवादी मनोवृत्तियों के कारण पैदा होने वाली व्यक्ति के भीतरी विकेन्द्रण की समस्या को बड़ी गहराई के साथ सामने रखा।

इस प्रकार अपनी एकांगी सभ्यता–समीक्षात्मक दृष्टि के कारण 'कामायनी' अंतिम निष्कर्षों में जन–विरोधी हो गई। वह प्रगतिशील तत्वों के खिलाफ प्रतिक्रियावादी शक्तियों के हाथ का हथियार बन गई। मुक्तिबोध ने इसी कारण से मुख्यतः कामायनी की समीक्षा का काम अपने हाथ में लिया। 'कामायनीः एक पुनर्विचार' को सभ्यता–समीक्षा के हथियार के इस रूप में ही देखना चाहिये।

कामायनी की अपनी व्याख्या में मुक्तिबोध ने रूप की संरचनाओं को प्राथमिक महत्त्व दिया है। उन्होंने रचना के कलात्मक सौन्दर्य को सिंहद्वार कहा है, जिसमें से गुजर कर ही कृति के मर्मक्षेत्र में विचरण किया जा सकता है। कामायनी का विवेचन उन्होंने फैण्टेसी के रूप में किया है। रचना–प्रक्रिया पर संपूर्ण चिंतन भी उन्होंने फैण्टेसी के संदर्भ में ही किया है। कहीं–कहीं तो ऐसा लगता है कि वह हर तरह की भाववादी कला को फैण्टेसी में ही समेट लेना चाहते हैं। यहीं आलोचक के रूप में उनकी सीमा नज़र आने लगती है। लेकिन वह अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में बहुत सावधान हैं। अपनी दूसरी समीक्षाओं में वह फैंटेसी के काव्य–रूप–संबंधी सैद्धांतिक चिंतन का कोई उपयोग नहीं करते। उन्होंने त्रिलोचन के काव्य–संग्रह 'धरती' पर, शमशेर की कुछ कविताओं पर, भारतभूषण अग्रवाल के संग्रह 'ओ अप्रस्तुत मन' पर, 'अंधायुग', 'उर्वशी' तथा 'परिवेशः हम–तुम' पर कुछ संक्षिप्त समीक्षायें भी लिखी हैं। इनके अतिरिक्त कुछ सामान्य रचनाओं पर भी उन्होंने लिखा है। लेकिन

इनमें से केवल 'अंधायुग' के संदर्भ में उन्होंने फैण्टेसी के काव्य–रूप की पुनः चर्चा की है। साथ ही, यह भी कहा है कि अंधायुग धर्मवीर भारती के उत्पीड़न–विवेक का विस्फोट होने के कारण उस तरह की फैंटेसी नहीं है, जैसी कि कामायनी है। इस प्रकार वह इस बात के प्रति सावधान हैं कि कविता का कोई भी सर्वग्रासी समाजशास्त्र बना पाना संभव नहीं है। इसका कारण आभ्यंतरीकरण के स्वरूप की विशिष्टिता में है, जिससे रचना के अनुभव–संसार की निजता का जन्म होता है। आभ्यंतरीकरण की इस समस्या पर उन्होंने विस्तार से चिंतन किया है।

'कामायनीः एक पुनर्विचार' मुक्तिबोध की व्यवस्थित आलोचना कृति है। इससे किसी भी काव्य कृति की आलोचना संबंधी जो सामान्य पद्धति सामने आती है, वह है कविता के रूप विश्लेषण के सहारे सामाजिक–ऐतिहासिक वास्तविकता से उसके संबंध को समझते हुए उसके कथ्य तक पहुंचने और इस तरह उसका मूल्यांकन करने की। कामायनी की समीक्षा में वह रूप–विश्लेषण से चलकर सभ्यता–समीक्षा तक पहुँचते हैं। जो रचनायें सभ्यता–समीक्षात्मक दृष्टि से प्रेरित नहीं हैं, उनमें यह प्रक्रिया रूप–विश्लेषण के सहारे कथ्य तक पहुंचने की हो सकती है। रूप और कथ्य के बीच के संबंध की विशिष्टता कवि के अनुभव की निजता, अर्थात् आभ्यंतरीकरण की विशिष्टता से आती है, जिसे अच्छी तरह समझ लेने के बाद ही कविता की सामाजिकता की खोज संभव है।

संदर्भ

1 'कविता क्या है?' चिन्तामणि भाग–1', पृ.93 (रामचन्द्र शुक्ल)

2 'रसात्मक बोध के विविध रूप' ' चिन्तामणि भाग–1', पृ.161 (रामचन्द्र शुक्ल)

3 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–4, पृ.193 (संपा. – नेमिचन्द्र जैन)

4 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', चिन्तामणि भाग–1', पृ.142 (रामचन्द्र शुक्ल)

5 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ.180

6 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ.45

7 वही, पृ.241

8 एस्थेटिक (अनु. डगलस आयनेस्ली) पृ.13 (क्रोचे)

9 शब्द और कर्म (साहित्य और सर्वहारा'), पृ.38 (मैनेजर पाण्डेय)

10 वही ('परंपरा और प्रतिभा'), पृ.91 (मैनेजर पाण्डेय)

11 (क) मुक्तिबोध रचनावली, भाग–4, पृ.81, (ख) वही भाग–5, पृ.91

12 वही भाग–5, पृ.191

13 शब्द और कर्म ('साहित्य और सर्वहारा'), पृ.45 (मैनेजर पाण्डेय)

14 शब्द और कर्म ('वाम कविता या जनवादी कवितावाद'), पृ.128 (मैनेजर पाण्डेय)

15 तारसप्तक का पुनश्च ('मुक्तिबोध का वक्तव्य'), पृ.45 (मुक्तिबोध)

16 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–4, पृ.159

17 वही, भाग–5, पृ.259–260

18 शब्द और कर्म ('नये मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता'), पृ.57 (मैनेजर पाण्डेय)

19 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–4, पृ.85

20 वही, भाग–4, पृ.88

21 वही, भाग–4, पृ.86–87

22 वही, भाग–4, पृ.91

23 वही, भाग–4, पृ.93

24 वही, भाग–5, पृ.45

25 वही, भाग–5, पृ.88

26 वही, भाग–5, पृ.140

27 वही, भाग–5, पृ.127

28 वही, भाग–5, पृ.100

29 शब्द और कर्म ('मुक्तिबोध का आलोचनात्मक संघर्ष'), पृ.230 (मैनेजर पाण्डेय)

30 "Before passing to the analysis itself, I would like to establish a few methodological points. genetic structuralism, as I have used it so far, presupposes: (*i*) The bringing to light of a work's global semantic model, the formation of which constitutes the scheme of a global system of relationships

between men and between them and the universe. (*ii*) The sociological study of the genesis of this model within the dynamic tendency of the collective consciousness of particular social groups. (*iii*) The extension of this global semantic structure into an aggragation of partial and more strictly formal structures, on all levels which the study of a written text involves", p. 142, 'Method in the Sociology of Literature' Goldmann (Essay - 'Genetic Structuralism & Stylistic Analysis).

[31] मुक्तिबोध रचनावली, भाग–4, पृ.232 (संपा. – नेमिचन्द्र जैन)

[32] वही, भाग–4, पृ.300 (संपा. – नेमिचन्द्र जैन)

[33] शब्द और कर्म ('मुक्तिबोध का आलोचनात्मक संघर्ष'), पृ.231 (मैनेजर पाण्डेय)

[34] मुक्तिबोध रचनावली, भाग–4, पृ.264 (संपा. – नेमिचन्द्र जैन)

[35] वही, पृ.238 (संपा. – नेमिचन्द्र जैन)

[36] वही, पृ.227 (संपा. – नेमिचन्द्र जैन)

[37] अनभै साँचा (श्रृँखला की कड़ियाँ: मुक्ति की राहें), पृ.188. (मैनेजर पाण्डेय)

[38] वही, भाग–4, पृ.281 (संपा. – नेमिचन्द्र जैन)

[39] शब्द और कर्म ('मुक्तिबोध का आलोचनात्मक संघर्ष'), पृ.232 (मैनेजर पाण्डेय)

[40] मुक्तिबोध रचनावली, भाग–4, पृ.253 (संपा. – नेमिचन्द्र जैन)

तीसरा अध्याय

काव्यान्दोलन और समाजशास्त्रीय दृष्टि

हम जानते हैं कि इतिहास ऐसी संरचना–विरचना प्रक्रिया है, जो मनुष्यों के क्रियाकलापों के कारण अस्तित्व में है। मानव–जीवन के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विविध पक्ष इस गतिशील समग्रता के अंतर्गत एक–दूसरे से इस प्रकार संबंधित रहते हैं कि उन्हें एक–दूसरे के सापेक्ष ही ठीक से जाना और समझा जा सकता है। सामाजिक और मानवीय विज्ञानों के क्षेत्र में मनुष्य के सामाजिक जीवन के किसी–एक पक्ष में आने वाले परिवर्तन के लिये किसी दूसरे पक्ष को पूर्णतः उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता; क्योंकि किसी भी परिवर्तन या प्रक्रिया के पीछे इतने अधिक कारक सक्रिय रहते हैं कि, इनमें से किसी विशेष कारक के प्रभाव और योगदान का स्पष्ट आकलन असंभव है (भौतिक विज्ञानों में, प्रयोगशाला में, शेष कारकों को स्थिर करके किसी विशेष कारक के प्रभाव का आकलन संभव है।)। परंतु यह भी निश्चित है कि जब मनुष्य के सामाजिक जीवन के किसी विशेष पक्ष में कोई बड़ा परिवर्तन उपस्थित होता है तो, वह उसके सामाजिक जीवन के दूसरे पक्षों की संरचनाओं में आने वाले परिवर्तनों का न्यूनाधिक मात्रा में परिणाम होता है और समग्र सामाजिक जीवन में संतुलन लाने के लिए उनका प्रेरक भी। इसलिये सामाजिक जीवन के किसी विशेष पक्ष में उपस्थित परिवर्तन को समझने के लिये उसका दूसरे पक्षों से सम्बन्ध समझना ज़रूरी है।

मुक्तिबोध ने समाज की गतिशीलता में जीवन के विविध पक्षों के योगदान को स्वीकार करते हुए लिखा है, "समाज की गतिशीलता में राजनैतिक प्रक्रिया अनेक प्रक्रियाओं में से एक है। समाज को विकासशील बनाने वाली अन्य महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, सांस्कृतिक प्रक्रिया।"[1] कविता, अपने व्यापक अर्थ में, एक सामाजिक–सांस्कृतिक कर्म है। मनुष्य की साहित्यिक सृजनशीलता के इतिहास का तीन–चौथाई से भी अधिक हिस्सा कविता के साथ जुड़ा हुआ है। तमाम साहित्य–रूपों के बीच कविता आज भी यथार्थ से अलग तरह का संबंध बनाती हुई मनुष्य की सांस्कृतिक विकास–यात्रा का अनिवार्य हिस्सा बनी हुई है। इस विकास–यात्रा में कई बार ऐसे पड़ाव (कालखण्ड) आये हैं, जब काव्य की सृजन–प्रक्रिया में कुछ विशेष–भावधाराओं ने केन्द्रीय स्थिति प्राप्त कर ली है। उस समय कवियों पर एक ख़ास जीवन और सौन्दर्य–दृष्टि का प्रभाव रहा है। ऐसे परिवर्तनों को हम 'काव्यान्दोलन' नाम देते हैं तथा उन्हें कविता के इतिहास में अलग से रेखांकित करते हैं। हिन्दी में मुख्य रूप से ऐसे तीन नाम सामने आते हैं– भक्ति आन्दोलन, छायावाद तथा नयी कविता।

भक्ति–आन्दोलन पर, मुक्तिबोध ने सन 1955 में एक निबन्ध 'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू' लिखा था। इसमें उन्होंने भक्ति आंदोलन पर सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में विचार करते हुए पहली बार कुछ ऐसे प्रश्न उठाये, जिन पर केवल समाजशास्त्रीय दृष्टि से ही विचार हो सकता था। इसमें से कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न इस प्रकार थे–

(1) पहली बार शूद्र कही जाने वाली जातियों के भीतर से सृजनशीलता का व्यापक विस्फोट इस काल में क्यों दिखाई देता है? निर्गुण संतकाव्य–धारा के लगभग सभी कवि प्रायः इन्हीं जातियों से क्यों आते हैं?

(2) कृष्णभक्ति–शाखा के भीतर रहीम और रसखान जैसे मुसलमान कवि नज़र आते हैं, लेकिन रामभक्ति–शाखा के अंतर्गत एक भी महत्वपूर्ण शूद्र या मुसलमान कवि क्यों नज़र नहीं आता?

(3) तुलसीदास के बाद भक्ति–आंदोलन क्यों शिथिल होता चला गया तथा उनके बाद हिन्दी क्षेत्र में कोई भी महत्वपूर्ण भक्तिकवि क्यों पैदा नहीं हो सका?

यद्यपि भक्ति–आंदोलन को उन्होंने केवल निर्गुण और सगुण काव्यधारा के पारस्परिक विरोध के रूप में ही व्याख्यायित करके उसके अन्य पक्षों की उपेक्षा कर दी है, तथा अपने शीर्षक से उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह भक्ति–आंदोलन का केवल एक पहलू ही है।

मुक्तिबोध ने इन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिये दो बिन्दुओं पर मुख्य–रूप से ध्यान दिया है– पहला बिन्दु है, भारत की सामंतयुगीन सामाजिक–आर्थिक संरचना का विश्लेषण तथा दूसरा बिन्दु है, उन गतिमान सामाजिक शक्तियों का ज्ञान, जिन्होंने मनोवैज्ञानिक–सांस्कृतिक धरातल पर आत्मप्रकटीकरण किया। इस दूसरे प्रश्न का संबंध इस बात से है कि किसी विशेष धारा की रचनाशीलता में निहित विश्वदृष्टि की संरचनायें किस सामाजिक समूह या वर्ग की विश्वदृष्टि की संरचनाओं से मिलती–जुलती हैं? उसी आधार पर यह भी पता लग सकता है कि धार्मिक रूप से कट्टर और रूढ़िवादी वर्ग में तुलसीदास जी इतने लोकप्रिय क्यों हैं? ऐसा कहने का अर्थ यह नहीं है कि तुलसीदास जी उस वर्ग की विश्वदृष्टि के निष्क्रिय प्रतिनिधि भर हैं; लेकिन रचना में निहित अनुभूतियों की आकृति–प्रकृति का संबंध सामाजिक वर्गों या समूहों की विश्वदृष्टियों से होता तो है ही। अगर ऐसा न होता तो, धार्मिक रूप से

कट्टर संस्कारशील वर्ग तुलसीदास का अपने पक्ष में उपयोग कैसे कर लेता? साथ ही, यह भी बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है कि किसी विशेष काव्यधारा में किन सामाजिक समूहों और वर्गों से आये रचनाकारों ने हिस्सा लिया? भक्तिकाव्य के संदर्भ में तो यह बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। इससे यह पता चलता है कि वह काव्यधारा किस–किस तरह की अनुभूतियों को किस सीमा तक रचनाक्षेत्र में आने के लिये प्रोत्साहित करती थी? वह किन सामाजिक–सांस्कृतिक लक्ष्यों से प्रेरित थी? इन आधारों पर चलते हुये तथा समाजार्थिक–संरचना से उनके संबंधों को समझते हुये मुक्तिबोध ने इस निबंध में, इस समस्या का हल पाने की कोशिश की है कि निर्गुणपंथी–संतकाव्य से आरंभ होने वाला सांस्कृतिक–आंदोलन क्यों विफल हो गया? सांस्कृतिक आंदोलनों के समाजशास्त्रीय अध्ययन में दिलचस्पी रखने वाले बाद के कई आलोचकों ने इन सब प्रश्नों पर विस्तार से विचार किया है। परंतु मुक्तिबोध का महत्व यह है कि उन्होंने हिन्दी में सामाजिक–सांस्कृतिक क्रियाओं और प्रक्रियाओं के अध्ययन की एक नयी समाजशास्त्रीय–प्रणाली का आरंभ किया।

'नयी कविता' आंदोलन पर मुक्तिबोध ने बहुत विस्तार से विचार किया है। उनके अनुसार 'नयी कविता' राष्ट्रीय ही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों से भी जुड़ी हुई थी। छायावादी काव्यांदोलन से ही राष्ट्रीय समस्याओं पर अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में विचार करने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी, परंतु तब तक मामला दूर–दूर का ही था। 'कामायनी' के विश्लेषण में मुक्तिबोध ने दिखाया है कि प्रसादजी पूंजीवादी समाज के संकटों पर न केवल भारतीय आरंभिक औपनिवेशिक पूंजीवाद के, बल्कि ह्रासग्रस्त पश्चिमी पूंजीवाद के परिप्रेक्ष्य में भी विचार कर रहे थे।

'नयी कविता' आंदोलन के जन्मकाल तक परिस्थितियों में भारी अंतर आ चुका था। देश अंग्रेजी–साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त होकर राष्ट्रीय पूँजीवाद के जाल में फँस चुका था। सामंतों ने अपने मुखौटे बदल कर नयी परिस्थिति के अनुकूल मुखौटे चढ़ा लिये थे। कांग्रेस शक्तिशाली लोगों और धनिकों की पार्टी बनने लगी थी तथा मध्यवर्गीय अवसरवादी मेढकों की एक लम्बी जमात उसमें तैयार हो गयी थी।

दूसरी ओर, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर, विश्व पूंजीवाद और समाजवाद के दो ध्रुवों में बँटा हुआ था। नेहरू ने भारत में शांतिपूर्ण ढँग से देश की परिस्थितियों के अनुरूप उद्योगों के राष्ट्रीयकरण, सामुदायिक कृषि तथा समाजवाद की ओर बढ़ने को देश का

लक्ष्य निश्चित किया। इसके लिये अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उन्होंने गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाई। इन नीतियों की भीतरी वास्तविकता को नेहरू के प्रशंसक होने के बावजूद, मुक्तिबोध पहचान रहे थे। सन् 1955 में लिखे गए, अपने निबंध 'समाजवादी समाज या अमरीकी–ब्रिटिश पूँजी की बाढ़' में उन्होंने लिखा है, "समाजवादी ढंग की समाज–रचना करने का तरीक़ा यह नहीं है कि भारत में अमरीकी पूँजी को पच्चीस वर्ष की गैरण्टी दी जाये और ब्रिटिश पूँजी के बारे में चूँ तक न किया जाये। इससे एक बात तो सिद्ध होती ही है। वह यह कि आगामी पच्चीस–तीस वर्षों तक के लिये समाजवादी ढंग टाल दिया गया है। तब तक भारत में और दुनिया में क्या परिस्थिति होती है, यह आगे देखने की बात हैं।"[2] आज जो परिस्थति है, वह हम देख ही रहे हैं।

'नयी कविता' आंदोलन का काल अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शीत–युद्ध का काल था। इसमें पर्दे के पीछे से राजनैतिक शक्तियाँ काम करती थीं। नयी कविता आंदोलन के एक हिस्से के तार पश्चिमी पूंजीवाद से जुड़े थे तथा उससे शक्ति प्राप्त करते थे। इस काल में राजनैतिक निहितार्थ बहुत सचेत ढँग से काम कर रहे थे। इसीलिए मुक्तिबोध ने कहा है कि साहित्यिक आंदोलनों के पीछे आजकल एक राजनैतिक दृष्टि भी लगी रहती है। नयी कविता की एक धारा व्यापक निराशावाद का प्रचार कर रही थी। आधुनिक भावबोध के नाम पर वह व्यक्तिनिष्ठ, समाजविरोधी स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति करके, मनुष्य को लघुत्व का पाठ पढ़ाती थी। ऐतिहासिक दृष्टि की उपेक्षा करते हुए और यंत्र–सभ्यता को व्यक्तित्त्व–विघटन और अजनबीपन का कारण बताते हुए वह पूँजीवाद के असली चरित्र को छिपाती थी। मुक्तिबोध ने 1957 में लिखे संयुक्त महाराष्ट्र का निर्माण एकदम ज़रूरी' निबंध में इस ओर संकेत करते हुए वार्तालाप–शैली में लिखा है, "उसने कहा, हां, लेकिन साधारण लोगों को तब जितनी फ़ुर्सत मिला करती थी, उतनी भी आजकल नहीं मिलती। यही तो रोना है। यंत्रवाद ने आदमी को बैल बना दिया है।" मैंने कहा, "यंत्रवाद नहीं, यह तो समाजव्यवस्था का दोष है।" उसने इतना ही जवाब दिया "यह तो अपना–अपना मत है।"

उसके विचारों में कुछ बातें महत्वपूर्ण हैं, यह समझकर मैंने आपके सामने उन्हें प्रस्तुत कर दिया।"[3]

इससे यह निराशावादी धारणा फैली कि मानव जीवन महान् होकर अत्यंत लघु और तुच्छ है, क्योंकि यंत्र–सभ्यता का आगे विकास ही होना है। मनुष्य की लघुता और उसके कष्ट यंत्र–सभ्यता के अनिवार्य तत्व हैं। इस निराशावाद से भाग कर कुछ ने क्षण की लघुता में जाकर शरण ली, तो कुछ ने इलियट की तरह धर्म और अध्यात्म की राह पकड़ी। भारतीय जनता में तो पहले से ही कष्टों को अध्यात्म के सहारे आदर्शीकृत करने की आदत थी। इस भावबोध ने उसे बढ़ावा दिया। इस प्रकार ऐसी रचनाशीलता ने जनता, सदियों के शोषण के कारण पिछड़ी जनता की सामाजिक–राजनीतिक–चेतना के विकास में बाधा उत्पन्न की। इसका फ़ायदा ऐसे तमाम लोगों ने उठाया, जो मँहगे काफी–हाउसों में बैठकर आधुनिक–सभ्यता के निराशावाद और नियतिवाद पर चुस्कियाँ ले–ले कर उत्तेजक बहसें करते थे। आधुनिक–भावबोध पर ड्राइंगरूमों में चलने वाली इन बहसों ने किस प्रकार जनता की चेतना को अपना शिकार बनाया; इसका मुक्तिबोध में अनेक निबन्धों में विस्तार से वर्णन किया है। 'अध्यात्म' का आदर्शीकरण और सार्वभौमीकरण करने वाली इस 'इलियट–नुमा' प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है, "भारत दार्शनिक देश है। .....जर्मनी दार्शनिकों का देश है, लेकिन दार्शनिक देश नहीं है।

समाज में जीवन पैदा करना, उसे सत्पथ दिखाना; यह फिलासफ़ी का महान धर्म है। लेकिन भारत में सामाजिक जीवन में श्रद्धा का स्थान निर्बुद्ध निष्ठा ने ले लिया है। फलतः जीवन को माया का सर्वोत्तम उदाहरण मानकर सड़क पर चलने वाले साधारण बुद्धि वाले लोग अच्छा अध्यात्म पा लेते हैं।"[4]

दरअसल 'नयी कविता' का आधुनिक–भावबोध भारतीय जनता की परिवर्तनकामी आकांक्षाओं का विरोधी था। सदियों के बाद जनता को देश–निर्माण का जो अवसर मिला था, उससे उसे विरत करने का ही काम इस आधुनिकताबोध ने किया। उसने जनता को भीड़ तथा साम्यवादी समाज–व्यवस्था को तानाशाही के रूप में निरूपित करके यह सिद्ध करने की कोशिश की कि, भले ही निराशाप्रद सही, पर जो भी थोड़ा–बहुत व्यक्ति–स्वतंत्र्य है, वह केवल पूंजीवादी व्यवस्था में ही है। मुक्तिबोध ने अंतर्राष्ट्रीयता को सही ढँग से सामने रखते हुए लिखा, "दुनिया छोटी होती जा रही है। राष्ट्रीयता के भाव अंतर्राष्ट्रीयता से अलग नहीं किये जा सकते। नयी कला, नयी कविता, स्वयं एक अंतर्राष्ट्रीय वस्तु हो गयी है। किन्तु अपनी भूमि

और अपने देश की मिट्टी में रँग कर ही विश्वात्मक हुआ जा सकता है, नहीं तो नहीं।"[5]

नयी कविता पर विचार करते हुए मुक्तिबोध ने, प्रसंगात्, सांस्कृतिक–आंदोलनों के रचनाशीलता पर पड़ने वाले प्रभावों का भी विश्लेषण किया है। दरअसल काव्यांदोलन, सृजनशीलता का विस्फोट होने के साथ–साथ, उसका प्रेरक भी होता है।

काव्यांदोलन का यह बहुत बड़ा महत्व है कि वह कवि को उसकी कमजोरियों से मुक्ति दिलाता है। आंदोलन के प्रभाव में वह अपने अंदर से उन तत्वों को बाहर लाने की कोशिश करता है, जिन्हें सामान्यतः वह अभिव्यक्ति के संघर्ष के भय से या जनता की चित्तवृत्ति में उन तत्वों की उपेक्षा देखकर, अपने अंदर ही दफन कर देता है। 'मुक्तिबोध' लिखते हैं–

"...किन्तु इस प्रकार का सृजनशील साहित्यिक वातावरण तब तक नहीं बन सकता जब तक किसी साहित्यिक आंदोलन का सूत्रपात न हो– वह साहित्यिक आंदोलन कि जो लेखकों को अपने सामाजिक अंश की अभिव्यक्ति के लिए मजबूर कर दे।"[6]

इसके बावजूद, रचनाशीलता के विकास में काव्यान्दोलनों का योगदान महत्वपूर्ण होते हुए भी, एक सीमा तक ही स्वीकार किया जा सकता है। जब आंदोलनों के भीतर की मूल ऊर्जा समाप्त होने लगती है, तो महज शैली और रूप का दोहराव शुरू हो जाता है। यह स्थिति नयी रचनाशीलता के लिये घातक सिद्ध होती है, क्योंकि आंदोलन जनता में एक ख़ास तरह की सौंदर्याभिरूचि विकसित कर देता है। यह सौंदर्याभिरूचि नयी रचनाशीलता के विरूद्ध 'सेंसर्स' पैदा करती है। दूसरी ओर, पुरानी तर्ज़ पर रची जाने वाली निहायत घटिया और महत्वहीन रचनायें भी जनता की चित्तवृत्ति के अनुकूल होने के कारण लोगों के बीच चर्चा का विषय बनी रहती हैं। मुक्तिबोध ने लिखा है– "क्या आप नहीं जानते कि भक्तिकाल में एक विशेष भाव–समुदाय को ही कलात्मक अभिव्यक्ति का महत्व प्राप्त था? क्या आप नहीं जानते कि रीतिकाल में भी एक विशेषा प्रकार के भाव–समुदाय को इस तरह का महत्व प्राप्त था? क्या आप नहीं जानते कि छायावादी युग में एक विशेष प्रकार के भाव–समुदाय को ही कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये चुना जाता था? क्या आप को यह नहीं मालूम कि आधुनिक भाव–बोध के अंतर्गत कुछ विशेष प्रकार के भाव–समुदाय आते हैं, कुछ

विशेष प्रकार की सौंदर्य परिकल्पनाएं आती हैं, एक ख़ास काट और एक ख़ास किस्म की अभिरूचि का ही सन्निवेश होता है? तो महोदय, आप जान जायेंगे कि वास्तविक अस्तित्व–संघर्ष में उत्पन्न विशेष सन्दर्भयुक्त, विशेष दिशोन्मुख तथा विशेष भावदृष्टि–सम्पन्न जो मनोभाव हैं, उन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं है। और यदि यह मान भी लिया जाये कि अधिकार है, तो हम यह कह देंगे कि वह अभिव्यक्ति, जो आपने ऐसे भाव–समुदायों को प्रदान की, कलात्मक नहीं है। और यदि कहीं वह सचमुच कलात्मक है, यह सिद्ध ही हो गया, तो हम यह कह देंगे कि वह कृति आधुनिक भाव–बोध के अंतर्गत नहीं आती। किस्सा ख़त्म। समझ गये। एक विशेष प्रकार के भाव–समुदायों को ही मान्यता–प्राप्त है, अन्यों को नहीं।"[7]

मुक्तिबोध की ये पंक्तियाँ नयी जनवादी रचनाशीलता की प्रवृत्तियों के उस संघर्ष की ओर संकेत करती हैं, जो उन्हें नयी कविता की यथार्थ के प्रति रोमानी, कुहरिल दृष्टि के विरूद्ध करना पड़ा। ऐसा प्रायः हर नयी रचना–प्रवृत्ति के साथ हुआ है। छायावाद को रीतिकालीन सौंदर्याभिरूचि के विरूद्ध कितना प्रबल संघर्ष करना पड़ा; यह 'पल्लव' की भूमिका से ही स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार नयी कविता को 'छायावादी चित्तवृत्ति' हटाने के लिये बुरी तरह जूझना पड़ा। स्वयं 'नयी कविता' के भीतर मुक्तिबोध का संघर्ष जनवादी रचनादृष्टि और सौंदर्याभिरूचि की स्थापना का संघर्ष था। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, " 'नयी कविता' में 'लघु–मानव' और 'सहज–मानव' की जो चर्चाएँ हुईं हैं, उनमें सहानुभूति की नवीन दिशा का ही संकेत है, किन्तु सामान्य जन को नये विशेषणों से सुसज्जित करने के बदले उसकी संज्ञा की पहचान अधिक ज़रूरी है। मानव को लघु और सहज बनाने में कवि की महानता की मुद्रा अधिक प्रकट होती है और यथार्थ–मानव के सामाजिक अस्तित्व की वास्तविकताओं की पहचान का प्रयास कम।"[8]

जड़ीभूत सौंदर्याभिरूचि का शिकार केवल जनता की चित्तवृत्ति ही नहीं होती, आलोचना भी होती है। यही कारण है कि 'अभिव्यक्ति की प्रणाली बदलते ही आलोचकों की नाड़ी छूटने लगती है।'[9] रामचन्द्र शुक्ल जैसे दिग्गज, समर्थ आलोचक ने क्या छायावाद को शैलीमात्र बताकर उसका विरोध नहीं किया था? और शुक्लोत्तर आलोचकों की एक लम्बी पीढ़ी (नगेन्द्र तक) क्या छायावादी संस्कारों से प्रभावित होकर ही आलोचना नहीं करती रही? हिन्दी से बाहर भी ऐसे दृश्य प्रचुरता से मिलते हैं। 'ब्रिटेन में बेन जॉनसन सरीखे पुराणपंथी विद्वानों की अभिरूचियों ने, यूनानी नाटक

के टेक्नीक को आदर्श मानकर ही तो शेक्सपियर के नाटकों को घटिया साबित किया था।'[10]

असल में, सौंदर्याभिरूचि का निर्माण पूरी तरह से स्वतःउद्भूत क्रिया नहीं है। वह सामाजिक समूहों और वर्गों की सांस्कृतिक दृष्टि से प्रेरित सचेत प्रयासों का फल होती है। आज के जमाने में इस सांस्कृतिक दृष्टि के पीछे एक राजनैतिक दृष्टि भी लगी रहती है। इसलिये जो लोग केवल दिमाग को खोल कर रखने के बजाय आँखें भी खोल कर रखते हैं, उनसे यह समझने में गलती नहीं होगी कि, 'जनता में कला–संबंधी अभिरूचि के प्रसार में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले वैचारिक संघर्ष के अलावा उसके पीछे क्रियाशील एक परोक्ष संघर्ष भी होता है, जो पूरी तरह शक्ति के खेल से निर्धारित होता है।'[11]

'नयी–कविता आंदोलन' के बीज तत्कालीन परिस्थितियों में निहित थे। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में जो भयावह उथल–पुथल हुई, उसने सैनिक–साम्राज्यवाद के रूप में एक शक्ति–विमर्श को प्रतिस्थापित कर, पूँजीवाद के रूप में दूसरे शक्ति–विमर्श को स्थापित किया। इससे यह धारणा फैली कि तंत्रगत बदलाव से बहुत कुछ होने नहीं जा रहा है, क्योंकि एक तरह के शोषण के हटने के बाद उसकी जगह दूसरी तरह का शोषण ही लेता है। इसके अलावा पूँजीवाद के आरंभिक चरण में व्यक्ति–स्वातंत्र्य की जो नयी–नयी उमंग आयी, उससे कवि को लगा कि, उसके लिये समाज के अंदर अपनी अकेली, पृथक् दुनिया बनाकर जीना उचित और संभव है। इस तरह वह अपने मूल्यों और आदर्शों को भी बचा लेगा। यह कवि तथा उसके पाठक मध्यवर्ग से आते थे। कवि यह नहीं समझ पाया कि ये आदर्श और मूल्य भी पहले से चली आ रही व्यवस्था के ही अवयव हैं, जो उसमें निर्मित उसकी चेतना का हिस्सा बन चुके हैं। उसे लगा कि अंदर निहित ये मूल्य कोई शाश्वत मानव मूल्य हैं। 'अंधा युग' इन्हीं मूल्यों के टूटने से उत्पन्न 'उत्पीड़न–विवेक का विस्फोट' है।

दूसरी ओर, देश के अंदर की परिस्थितियाँ यह थीं कि, जब स्वाधीनता निकट आने के साथ–साथ कांग्रेस धनिकों की पार्टी बनने लगी तथा चापलूसी और गुण्डागर्दी बढ़ने लगी, तो आम–आदमी को लगा कि नैतिकता और आदर्श के पुछल्ले से प्रेरित होकर अपना सब कुछ गँवाने के बाद वह मूर्ख बन गया है। मुक्तिबोध लिखते हैं, "एक

विशेष प्रकार के चरित्र के लोगों को, आवश्यक मनोवैज्ञानिक उपादान जिनके पास थे ही, साथ ही, प्रस्तुत सामाजिक परिवेश, सामग्री और साधन भी थे, यह नयी सामाजिक परिस्थिति अत्यंत सुविधाजनक प्रतीत हुई।"[12]

फिर क्या था? अपना–अपना कच्छप–खोल दूर धरकर अवसरवादी मेंढकों ने सत्तापुरूषों की गोद में छलाँग मारना शुरू कर दिया। चापलूसों को बड़े–बड़े ओहदे बाँटे गए, तरक्कियाँ दी गयीं और पूँजी का खुला (और छिपा) खेल शुरू हुआ। पूँजी के खेल में अप्रासंगिक हो चुकी सारी मानवतावादी, अध्यात्मवादी नैतिकताओं और आदर्शात्मक मूल्यों की चूलें इस तरह हिलती नज़र आने लगीं, मानों अभी तक किसी पोले बाँस पर ही टिकी रही हों। नयी कविता आन्दोलन में तंत्र के पीछे की इस भयावह मूल्यहीनता, अराजकता, अनास्था; अवसरवाद तथा निराशा की छाया है।

नयी कविता के सिद्धांतकारों ने तरह–तरह से जिन चार मान्यताओं को फेंटा है, वे ये हैं– (क) आधुनिक–भावबोध, (ख) व्यक्ति–स्वातंत्र्य, (ग) लघुमानव की प्रतिष्ठा और (घ) जीवन और कला की समानांतरता।

मुक्तिबोध ने इन मान्यताओं के पीछे काम करने वाली शीतयुद्ध–कालीन साम्राज्यवादी विचारधारा के वास्तविक रूप को, अपनी आलोचना के द्वारा, जनता के सामने लाने का काम किया।

'नयी कविता' वालों का यह तथाकथित 'आधुनिक–भावबोध' अनुभूति के क्षेत्र की वर्णव्यवस्था का ब्राह्मण था, जो किसी तरह के 'वाद' (विचार–व्यवस्था) से छू जाने पर अपवित्र हो जाता था। उसने अपना एक स्रोत सार्त्र के 'अस्तित्ववाद' में खोजा। परंतु सार्त्र, जहाँ, मनुष्य की क्रांतिकारिता और महत्व में विश्वास करते थे, नयी कविता वालों का आधुनिक–भावबोध निष्क्रिय पीड़ाबोध तक सिमटा रहा। इसीलिये मुक्तिबोध ने आधुनिकतावादियों को 'पोचे' कहा है। दरअसल सार्त्र की विचारधारा जहां मानव–मुक्ति की खोज से प्रेरित होकर जीवन–जगत् को समझने की अनुभववादी पद्धति से जन्मी थी, नयी कविता में केवल राजनैतिक हथियार के रूप में उसका प्रयोग किया गया। इनका व्यक्ति–स्वातंत्र्य सार्त्र की तरह बेचैन मन की पीड़ा न होकर, पूँजीवादी–व्यवस्था की सचेत चालाकी है। इसका प्रमाण यह है कि ये सामाजिक परिवर्तन के लिये प्रयास करने वाले लोगों पर प्रहार करने के लिये अलग–अलग स्रोतों के पास हथियार जुटाने गये। आधुनिक–भावबोध के लिये तो ये

सार्त्र के पास गये, पर व्यक्ति–स्वातंत्र्य की अवधारणा के लिए पूँजीवाद, मनुष्य के लघुत्व को दिखाने के लिये संरचनावाद और जीवन एवं कला की समानान्तरता दिखाने के लिये कलावाद के गढ़ से इन्होंने हथियार इकट्ठा किये। जिस किसी चिंतन का जो भी अंश सामाजिक परिवर्तन में मनुष्य की हिस्सेदारी के खिलाफ़ प्रयोग किया जा सकता था, उसे इन्होंने अपने शस्त्रगार में भर लिया। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "मुक्तिबोध के अनुसार, दुःख के स्थायित्व, लघुत्व की मूल स्थिति तथा उच्चतर गुणों के माया–स्वप्नत्व का पाठ पढ़ाकर मनुष्य को मानवसत्ता के उच्चतर रूपांतर के कार्यों और कार्यक्रमों से अलग करना ही इस लघु–मानव के सिद्धांत का मुख्य उद्देश्य है। यही कारण है कि वे लघु–मानव के सिद्धांत को नकारवादी, निराशावादी और प्रतिक्रियावादी कहते हैं।"[13]

हम जानते हैं कि संरचनावाद सामाजिक परिवर्तनों में मनुष्य की भूमिका से इंकार करते हुए उसे तुच्छ, यहां तक कि, अस्तित्वहीन साबित करता है। लक्ष्मीकांत वर्मा और उनके सहयोगियों के अनुसार, मनुष्य साधारण मानव भी नहीं है। वह लघु मानव है। पीड़ा–भोग उसकी नियति है। उसमें कोई क्रांतिकारी शक्ति नहीं है। वह व्यक्तिगत स्तर पर स्वतंत्र है। उसकी व्यक्तिगत इयत्ता समाज से विच्छिन्न और स्वतंत्र है, क्योंकि समाज भीड़ है और भीड़ में उसके खो जाने का डर है। इस प्रकार नयी–कविता वालों ने संरचनावाद के मनुष्यता–विरोधी चिंतन के साथ सार्त्र के क्रांतिकारी चिंतन को मिलाकर ऐसी बेमेल खिचड़ी पकाई, जो स्पष्ट ही, इनके चिंतन के असली स्रोत–पश्चिमी पूँजीवाद और उसके राजनैतिक निहितार्थों की ओर संकेत करती है।

यह सही है कि 'नयी कविता' के आरंभ काल में संरचनावाद पूरी तरह से सामने नहीं आया था, परंतु नयी–कविता के सिद्धांतकार जिन राजनैतिक निहितार्थों से प्रेरित थे, संरचनावाद के विकास के पीछे काम करने वाली दृष्टि के इरादे उससे भिन्न न थे।

जीवन और कला की समानांतरता का सिद्धांत प्रतिपादित करने वालों के इरादे पहचानते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है, "यह सिद्धांत एक बहुत ही ख़तरनाक मान्यता है। नयी कविता के बुर्ज़ से शीत–युद्ध चलाने–वाले नीति–नियामकों का वह एक सोद्देश्य मानसिक–विक्षेप है।"[14]

'नयी कविता' के कवियों ने अपने मध्यवर्गीय पाठक को अधिकाधिक व्यक्तिबद्ध बनाने की कोशिश की। जो कवि इस मध्यवर्गीय दायरे से बाहर जाकर व्यापक जनता के जीवन–सत्य को पकड़ने की कोशिश करते थे, उन्हें 'जितना तुम्हारा सच है उतना ही कहो' का निर्देश दिया गया। जो फिर भी न माने, उनकी अभिव्यक्ति को ही आधुनिक–भावबोध से बाहर कर दिया गया। इस तरह साहित्यिक–क्षेत्र में एक तरह की दारोगागिरी को प्रश्रय मिला। 'तुम नहीं व्याप सकते, जो तुममें व्यापा है उसी को निबाहो' का मंत्र देने वालों का, इसीलिये 'मुक्तिबोध' ने इस आधार पर विरोध किया कि, मनुष्य होने का अर्थ ही अपने सच का सक्रिय–चिंतन और कर्म से विस्तार करना है। मनुष्य होने की अपनी पहचान, अंदर से कहीं अधिक, बाहर से मिलती है। हर छाती में जो 'आत्मा अधीरा' है और हर वाणी में जो 'महाकाव्यात्मक पीड़ा' है, उसे सुनने और महसूस करने के संघर्ष से भाग कर 'सदानीरा काव्य' नहीं रचा जा सकता।

नयी कविता का आधुनिक–भावबोध शहरी शिक्षित मध्यवर्ग के एक हिस्से की भावधारा से जुड़ा हुआ था। उसके कवि उसी की विश्वदृष्टि को व्यक्त करते थे। परंतु समस्या यह नहीं थी। समस्या यह थी कि वे एक ऐसी–सौंदर्याभिरूचि को सब पर थोप रहे थे, जो शेष जनता के जीवन और उसकी विश्वदृष्टि को काव्यक्षेत्र में आने से 'सेंसर' करती थी। उनकी सौंदर्याभिरूचि के पीछे पूँजीवादी राजनीति काम कर रही थी। मुक्तिबोध ने सचेत ढँग से इसका विरोध किया तथा जनवादी लक्ष्यों को बचाने के लिये वह, लगातार, इस दुष्प्रचार के खिलाफ़ रचना और आलोचना– दोनों स्तरों पर संघर्ष करते रहे। उनके इस संघर्ष का आज की प्रगतिशील काव्यधारा के लगातार शक्तिशाली होते जाने में महत्वपूर्ण योगदान है। आज के अनेक प्रगतिशील कवि वर्तमान सभ्यता के संकट को गहराई से पहचान रहे हैं तथा समाज–चेतना और संभाव्य–चेतना के संबंधों को पहचानने का प्रयास करते हुए मानव–मुक्ति के विकल्प की खोज में संलग्न हैं। यह इस बात का संकेत है कि धीरे–धीरे ही सही, पर समाज में एक सांस्कृतिक बेचैनी फैल रही है; जो जनता के सक्रिय सहयोग से कभी व्यापक आंदोलन का रूप लेगी।

संदर्भ–सूची

1 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–6, पृ.409 (संपा. नेमिचन्द्र जैन)

2 वही, पृ.70

3 वही, पृ.172

4 वही, पृ.25–26

5 वही, भाग–5, पृ.309

6 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–4, पृ.17 (संपा. नेमिचन्द्र जैन)

7 वही, पृ.150 (संपा. नेमिचन्द्र जैन)

8 शब्द और कर्म, पृ.100 (मैनेजर पाण्डेय)

9 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ.228 (संपा. नेमिचन्द्र जैन)

10 वही, पृ.55 (संपा. नेमिचन्द्र जैन)

11 Sociology of Literary Taste, p.54 (Schuking)

12 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ.444 (संपा. नेमिचन्द्र जैन)

13 शब्द और कर्म ('मुक्तिबोध का आलोचनात्मक संघर्ष'), पृ.245 (मैनेजर पाण्डेय)

14 मुक्तिबोध रचनावली, भाग–5, पृ.319 (संपा. नेमिचन्द्र जैन)

उपसंहार

मुक्तिबोध के सैद्धांतिक चिंतन और व्यावहारिक आलोचनाओं के विश्लेषण से जो निष्कर्ष सामने आये हैं, उन्हें संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है–

(1) कामायनी के विश्लेषण में अपनाई गयी पद्धति उन काव्य–कृतियों की व्याख्या में उपयोगी है, जिनके निर्माण के पीछे गतिशील यथार्थ को उसकी समग्रता में रचने की प्रेरणा हो। यह पद्धति रूप के विश्लेषण से आरंभ होकर सभ्यता–समीक्षा तक जाती है और इस प्रकार व्याख्या के सभी स्तरों को समावेशित करती है। साथ ही, इस पद्धति की कमी यह है कि, इसमें रचना की सौन्दर्यात्मक–विविधता की, एक हद तक, उपेक्षा होती है।

(2) विश्वदृष्टि की संरचनाओं को आधार बनाने के कारण इस पद्धति में कृति की आलोचना तथा काव्यान्दोलनों के विश्लेषण में एक ही आलोचना–दृष्टि का उपयोग होता है। इस प्रकार से निर्मित 'कविता का समाजशास्त्र' कृति की व्याख्या और काव्यांदोलनों के विश्लेषण में एक ही कला–दृष्टि से प्रेरित होने के कारण एक सुसंगत आलोचना–दृष्टि के रूप में सामने आता है। साथ ही, इसकी कमी यह है कि अभी तक इसमें कवि की विशिष्टता की, एक सीमा के बाद, उपेक्षा हो गयी है।

(3) मुक्तिबोध के सैद्धांतिक चिंतन से आधुनिक कविताओं की व्याख्या के लिये एक सामान्य परिप्रेक्ष्य भी सामने आता है, जिसकी शोध में यथोचित स्थान पर चर्चा की गयी है।

(4) उनकी आलोचना–दृष्टि रचना की साहित्यिक–सामाजिक व्याख्या और मूल्यांकन के साथ, उसके राजनैतिक पक्ष को भी सामने लाती है।

संक्षेप में, यही उनकी समाजशास्त्रीय आलोचना की शक्तियाँ और सीमायें हैं।

संदर्भ–ग्रंथ सूची

प्राथमिक स्रोत

कामायनी : प्रसाद (जयशंकर), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998

'कामायनीः एक पुनर्विचार' : मुक्तिबोध (ग. मा.), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

'मुक्तिबोध रचनावलीः छह खण्ड' : सं.– जैन (नेमिचन्द्र), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

द्वितीयक स्रोत

'हिन्दी'

'अनभै साँचा' : पाण्डेय (मैनेजर), पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002 (1st Pub.)

'कविता के नये प्रतिमान' : सिंह (नामवर), राज़कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

'चिंतामणिः पहला भाग' : शुक्ल (रामचन्द्र), हिन्दी साहित्य सरोवर, आगरा, 1992

'विभ्रम और यथार्थ' : कॉडवेल (क्रिस्टोफर), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, (अनुवादक–भगवान सिंह)

'शब्द और कर्म' : पाण्डेय (मैनेजर), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' : पाण्डेय (मैनेजर), हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1989

अंग्रेजी

'Aesthetic' : Croce (Benedetto), Vision Press, London, 1953, (Translated by- Austie Duglas)

'Cultural Creation in Modern Society: Goldmann (Lucien), Basil Blackwell & Mott. Ltd. Oxford, 1977.

'Method in the Sociology of Literature: Goldmann (Lucien), Basil Blackwell & Mott. Ltd. Oxford, 1980.

Poetry and the Sociological Idea', : Ward (J.P.), Harvester Press, Sussex, 1981.

'Sociology of Literary Taste' : Schücking (Levin L.), Routledge & Kegan Paul Ltd., London, 1966.

सहायक ग्रंथों–सूची

आत्मनेपद : अज्ञेय (स. ही. वात्स्यायन), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960

आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ : सिंह (नामवर), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971

आस्था और सौन्दर्य : शर्मा (रामविलास), किताबमहल, इलाहाबाद, 1883

इतिहास और आलोचना : सिंह (नामवर), राजकमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1978

कविता का पक्ष : चतुर्वेदी (रामस्वरूप), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994 (1st Pub.)

कवि दृष्टि : अज्ञेय (स. ही. वात्सयायन), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1983

छायावाद : सिंह (नामवर), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

'तार सप्तक' (छठा संस्करण) : सं.– 'अज्ञेय' (स. ही. वात्स्यायन) भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1995

नई कविता : देवराज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1987

नयी कविता और अस्तित्ववाद : शर्मा (रामविलास), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1978

नयी कविता के प्रतिमान : वर्मा (लक्ष्मीकांत), भारती प्रेस, इलाहाबाद, संवत् 2014

'नयी कविताः स्वरूप और समस्याएँ' : गुप्त (जगदीश), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1969

'भाषा और संवेदना' : चतुर्वेदी (रामस्वरूप), भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1964

'रसमीमांसा' (छठा संस्करण) : शुक्ल (रामचन्द्र), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1991

'साहित्य और इतिहास दृष्टि' : पाण्डेय (मैनेजर), पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, 1981

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (बत्तीसवाँ संस्करण) : शुक्ल (रामचन्द्र), नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 1997

अंग्रेजी

'A Contribution to the Critique of Politial Economy' : Marx (Karl), Progress Publishers, Moscow, 1971

'Being and Nothingness' : Satre (Jean-Paul), Methuen & Co. Ltd., London, 1957 (1st Pub.) (Translated in English)

'Economic and Philosophic Manuscripts of 1844' : Marx (Karl), Progress Publishers, Moscow, 1974.

'German Ideology' : Marx (Karl), Progress Publishers, Moscow, 1976

'Ideology and Ideological State Apparatuses: Althusser (L.), Cosin, 1972.

'Social Theory and Social Structure' : Merton (R.K.), The Free Press, New York, 1968.

'Sociology of Art and Literature: A reader': Ed. - Albrecht (Milton C.), Duckworth, London, 1970.

'Structuralist Poetics' : Culler (Janathan), Routledge, London, 1975.

'The Social System', : Parsons (Talcott), The Free Press, New York, 1951.

'Marxism and Form' : Jameson (Fredric), Princeton, New Jersey, 1974.

Some Selected Essays:

'Genetic Structuralism in the Sociology of Literature, : Goldmann (Lucien) Collected in 'Sociology of Literature and Drama, (Ed. - Elizabeth and tom Burus), Karmondsworth Middle Sex, England, Penguin Books, 1973.

' Notes on 'Poetry and Social Theory': Luhmann (Niklas), Collected in Journal "Theory, Culture and Society", Sage Pub., London, Vol.18, Feb. 2001.

'Tradition and Individual talent' : Eliot (T.S.), collected in "Selected Essays" by T.S. Eliot, Faber and Faber Ltd., London, 1932.